

फ
२७३

० विश्वनाथ ०

अर्थ

काम

धर्म

मोक्ष

वर्ष ४ }

सानन्दमानन्दवने वसन्तमानन्दकन्दं हतपापवृन्दम् ।
वाराणसीनाथमनाथनाथं श्रीविश्वनाथं शरणं प्रपद्ये ॥

{ अंक ५

भगवन्नामावलि

हरहर महादेव शम्भो काशी-विश्वनाथ गङ्गे ।
 साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शङ्कर ।
 हर हर शङ्कर दुःखहर शङ्कर सुखकर भयहर हर शङ्कर ॥
 श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे ! नाथ नारायण वासुदेव ।
 श्रीमन्नारायण नारायण नारायण, श्रीमन्नारायण नारायण नारायण ।
 हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

शिवनामावलि

वार्षिक मूल्य

भारत में केवल

हिन्दी २) गुजराती

सहित हिन्दी २॥)

विदेश में ४) रु०

महादेव ! शिव ! शंकर ! शम्भो ! उमाकान्त ! हर ! त्रिपुरारे ! ।

मृत्युञ्जय ! वृषभध्वज ! शूलिन् ! गङ्गाधर ! मृड ! मदनारे ! ॥

हर ! शिव ! शंकर ! गौरीशं ! वन्दे गंगाधरमीशम् ।

रुद्रं पशुपतिमीशानं कलये काशीपुरिनाथम् ॥

॥ जय शम्भो ! जय शम्भो ! शिव ! गौरीशंकर ! जय शम्भो ! ॥

साधारण प्रति

भारत में ३)

विदेश में १-)

विषय	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
१. सप्तमहासंस्कृत—		१६३
२. सप्तम गुरुभारती प्रतिज्ञा—		१६३
३. गोविन्दार—(कविता) लेखक—ब्रह्मनिष्ठ परमहंस स्वामीजी श्रीमोलेबाबाजी महाराज		१६४
४. सप्तमहासंस्कृत—ले० श्रीमत्परमहंस स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेश्वर		१६५
५. सप्तमहासंस्कृत—ले० श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल आचार्य, काव्यप्रतीति, साहित्याचार्य, कविरत्न		१६६
६. सप्तमहासंस्कृत—ले० भक्त रामशरणदासजी पिलखुवा		१६६
७. श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य पूज्यपादश्रीसर्वज्ञानमुनिप्रणीतम् संक्षेप-शारीरकम्		२०१
८. श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेश्वर		२३३

खण्डनखण्डखाद्यकी संस्कृत 'शारदा' टीका

शुभ सूचना ! अपूर्व अवसर !! अलभ्यलाभ !!!

सुप्रसिद्ध चिद्विज्ञोमणि परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी शंकरचैतन्य भारती विरचित "खण्डनखण्डखाद्य" की "शारदा" टीकाका प्रत्यक्ष खण्डनान्त प्रथम भाग छप कर तैयार हो गया है। यह टीका केवल वेदान्तके ही नहीं बल्कि सर्व सम्प्रदायके विद्यार्थी और अध्यापकोंके लिये अन्यन्त उपयोगी है। विशेष रूपसे न्यूनन्यायके प्रेमियों के लिये अत्यन्त आदर्शनीय होगी। इसमें प्राचीन सब टीकाओंका खण्डन एवं खण्डनखण्डखाद्यके विरोधि नवीन ग्रंथों का खण्डन बड़े सफाईसे किया गया है। प्रति पंक्तिका नवीन रीतिसे अवतरण तथा गूढ़ार्थका उद्घाटन और न्यूनन्यायकी रीतिसे विचार चर्चा तथा सम्प्रदायिक रहस्य अच्छी तरहसे दिखाया है। अब उ अच्छे मान्य विद्वानोंने इसटीका के धारोंमें हार्दिक सम्मतियां दी हैं वह दूसरे भागमें मुद्रितकी जायगी। कीमत एक भागका २। ५० डाक खर्च अलग इसका उपयोगिता-पुस्तक देखनेसे विद्वान् स्वयं समझ जायेंगे। जल्दी कीजिये नहीं तो दूसरे संस्करणकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

पता—विश्वनाथ कार्यालय दुष्टिहराज गणेश बनारस सिटी।

ब्रह्मसूत्र

श्रीमण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दजी महाराज कृप हिन्दी टीका सहित, मांगकर सतसंगका लाभ लीजिये प्र० अ० कीमत २।

॥ विश्वनाथ आश्रममें चातुर्मास ॥

ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज कार्यवत् इस साल काशीमें मंदिर बनानेके लिये जो वगीचा लिया गया है—विश्वनाथ आश्रममें चातुर्मास करेंगे—

पता—श्री विश्वनाथ आश्रम

ठि० चुप्पेपुर (शिवपुररोड) बनारस कैण्ड

सम्पादकजीका धर्मप्रचार

ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलेश्वरजी हरिद्वारमें काशी मुक्ति क्षेत्र होते हुए गयाजी पधारे, गयासे बोध गया वैजनाथ आदि होते हुए कलकत्ताके भक्त-जनोंके आम्रुद्धिमें चातुर्मासके लिये कलकत्ता पधारे हैं। ३० मूर्ति महात्मा आपके साथ हैं पठन पाठन तथा कथा सतसंग धर्म प्रचारार्थ मण्डलीमें बराबर होता रहता है।

आपका पता (माहेश्वरी भवन कलकत्ता)

मंत्र लिखनेवालों को इनाम

हरिद्वारके कुम्भमें ॐ नमःशिवाय बैक की तरफसे उत्साह वृद्धार्थ विशेष संख्यामें मंत्र लिखनेवाले सभजनोंको बगईके धर्म-प्रेमी परोपकारी श्रीमान् सेठ जमुनादास हरखजी संववीजीकी पुत्री श्रीमती मिर्नला बगईकी तरफसे पारितोषिक (इनाम) दिया गया ।

प्रथम इनाम लाहौरके श्रीमान् देवीदासजी स्टाम फरोसको भेजा गया—आने ५० बिज बहुत सुन्दर साफझके कागज पर हाथसे बनाये हुए शंकर-पार्वती-गणेश-नन्दीगण-हनुमानजी आदि देवताओंके भेजे थे—उन चित्रोंमें लिखता यह थी—कि हर एक चित्रोंमें ॐ नमःशिवाय मंत्र-भरा हुआ साफ २ अक्षरोंमें लिखा हुआ था । अतः एक एक चित्रपदक (सोनेका तकमा) तथा एक स्वर्णके तारमें मढ़ी हुई रुद्राक्षकी माला इनाममें दिया गया ।

नद्दीआदमें श्रीमती शान्ता बहिनने निज हाथोंसे १० लाख पञ्चाक्षरी मंत्र लिखकर जमा किया है, इनकी एक रजत-पदक (चांदीका तकमा) दिया गया । ब्रह्मचारी शिवचैतन्यजीने दक्षिण आदि प्रांतोंमें जाकर-शिवापण बुद्धिसे द्विजातियोंमें विशाल प्रचार कर कई करोड़ोंकी संख्यामें मंत्र लिखवाकर भिजवाया है—इनकी संकरजीके भजनके लिये एक स्वर्णके तारमें मढ़ी हुई रुद्राक्षकी माला इनाममें दी गई ।

बैंक शाखा नं० २३० जामजोधपुर काठियावाड़

धर्मप्रिय परोपकारी श्रीमान् पं० चतुर्भुज गांडालालजी जनताके बड़े हितैषी हैं, आपने भक्तजनोंमें प्रेरणाकर थोड़े दिनोंमें ही २३ लाख मन्त्र लिखवाकर पारसल भिजवाया है, मन्त्र बहुत सुन्दर साफ अक्षरोंमें लाल स्याहीसे लिखा हुआ है ।

शाखा नं० २२० मु० मानासा

श्रीमान् मधुकर प्रधानजी ॐ नमःशिवाय बैककी शाखाका कार्य शिवापण बुद्धिसे बड़े प्रेम व उत्साह पूर्वक कर रहे हैं । श्रीमान् परोपकारी सेठ हीरालालजी—व श्रीमान् सेठ रामचन्द्रजीकी अतीव धन्यवाद है जिन्होंने समय २ पर तन-मन-धनसे मददकर मन्त्र लिखानेमें पूर्ण कोशिशकी है श्री विश्वनाथजी आपको सदैव सद्बुद्धि प्रदान करें और आशा है, इसीप्रकार आप मंत्र लिखानेकी प्रवृत्ति चालू रखेंगे । सोनी हीरालालजी आदि भक्तजनोंकी प्रेरणासे गत मासमें १०१३७८:२ मन्त्रोंका पारसल काशीजी आया है । यहांके व्यवस्थापकजी लिखते हैं । श्रीमान् स्वामीजी इस महामन्त्रके लिखनेके प्रभावसे हमारे यहां बहुतोंको दैविक चमत्कार—व मनोकामना की पूर्ति हुई है ।

बालापुर बराइसे श्रीमान् मदनलालजीकी मारफत पांच लाख मन्त्र इस मासमें आया ।

॥ विशेष धन्यवाद ॥

हरिद्वारके कुम्भमें ॐ नमःशिवाय बैककी तरफसे डेढ़ महीना पर्यन्त हरकी पैदी पर करीब डेढ़ करोड़ बत्तियों श्री गंगाजीकी आरती बड़े समारोहके साथ की गई थी । जिसमें अपनी २ रुचि अनुसार सभी देशोंमें भक्त लोगोंने बत्तियां बना कर भेजी थी । लेकिन नेपालसे योगीराज श्री १०८ श्रीवासुकी ब्रह्मचारीजी महाराजके द्वारा ६५ लाख ३५ हजार बत्तियां भी भेजी हुई प्राप्त हुई । इतनी संख्यामें बत्तियां और कहींसे बनकर नहीं आई । अतः नेपालकी प्रजा व ब्रह्मचारीजी महाराजकी हार्दिक धन्यवाद है, श्री विश्वनाथजी आपको ज्ञान भक्ति वैराग्य की वृद्धि करें ।

॥ विद्यार्थियोंके लिये शुभ सूचना ॥

अहमदाबाद संन्यास आश्रममें श्रीकाशी विश्वनाथ महाविद्यालय गर्मियोंकी छुट्टीके कारण बन्द था । आपाद शुक्र द्वितीया बुधवार रथयात्राके दिन महाविद्यालय खुलेगा ।

ॐ नमो विश्वस्वरूपाय, विश्वस्थित्यन्तहेतवे । विष्णवे विश्वनाथाय, विश्वेश्वराय ते नमः ॥

ॐ नमः शिवाय
ॐ नमो नारायणाय

ॐ नमः शिवाय
ॐ नमो नारायणाय



पुस्तक ४ }

काशी, आषाढ़ १९६५ जून १९३८

{ अंक ५

सावधान

जीवन व्यर्थ बिताओ नहीं, दिन आ रहे हैं विरुधापन के ।
अन्तमें काम न आवै कछु, धन धाम आराम वहाँ तन के ॥
केवल ईशकी भक्ति करो, तजि के छल छद्द सबै मन के ।
मृत्यु को नेरे सदा समुझौ, मदमें रहो मस्त न जोवन के ॥

आत्म सुधारकी प्रतिज्ञा

मोह मद द्वेषको निकाल मन मंदिर से, संयम विशेष साध ज्ञानको बढ़ाऊँगा ।
आश अभिलाष छोड़-विश्वसे सनेह तोड़, मोड़ मन-भूढ़को सुमार्गमें लगाऊँगा ॥
गाऊँगा नवीन राग आनन्द अपार भरा, प्रेमके प्रवाहमें अथाह गोते खाऊँगा ।
रामनाम रट मैं डहूँगा भक्ति पथ-बीच, नीच जगछोड़ राम रूप बन जाऊँगा ॥

गीतासार

(लेखक—ब्रह्मनिष्ठ परमहंस स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

(१)

(६)

२२

हैं सार गीताका यही, सब धर्म तजना चाहिये । एकान्त पावन देशमें कुटिया बना कर वास रे ।
मन कर्मवाणीसे सदा धर्मेश भजना चाहिये ॥ दूजे किसीको मत बुला, मत जा किसीके पास रे ॥
करने न करने में कभी नहीं उलझना चाहिये । विज्ञेय मनके दे दटा आसन लगाकर ध्यान कर ।
कर्ता अकर्ता कौन है ? सम्यक् समझना चाहिये ॥ सब वस्तुओंको भूल केवल आत्म अनुसंधान कर ॥

(२)

(७)

मन शुद्ध दाता मोक्षका, विपरीत मन बंधन करे । मत बाह्यका कुछ ध्यान कर, भीतर मतीकर चिंतवन ।
जो धीर करले शुद्ध मन, भवसिन्धुसे निश्चय तरे ॥ संकल्प से कर शून्य मनको आप तू होजा अमन ॥
मन शुद्ध करनेके लिये निज धर्म करना चाहिये । जिसमें न यह वह लेश है, जो सत्यका भी सत्य है ।
जिसके लिये जो है विदित सो कर्म करना चाहिये ॥ जो एकरस आनन्दधन, अच्युत अनामय नित्य है ॥

(३)

(८)

जबतक न हो मन शुद्ध तबतक कर्ममें तत्पर रहे । जब मन अमन हो जाय है, तब शेष सो रह जाय है ।
छोड़े नहीं सुत दार धन कन्याणकांची घर रहे ॥ यह विश्व लय हो जाय है, सर्वत्र सो ही पाय है ॥
जो कुछ करे दानादि सब विश्वेशके अर्पण करे । करके उसोका ध्यान निशिदिन वासनायें काट रे ।
अभिमान अपना त्याग दे, फलमें कभी ना मन धरे ॥ ना लेश भी रख कामना, एकैक करके छाँट रे ॥

(४)

(९)

यह बात सम्यक् सत्य है, संन्यास सबसे श्रेष्ठ है । चिन्ता न करना चाहिये, आशा न करना चाहिये ।
तो भी बिना अधिकारका संन्यास करना भ्रष्ट है ॥ तज अन्य केवल आत्मका हो ध्यान धरना चाहिये ।
ना कर्म तजना योग है, ना अग्नि तजना न्यास है । निर्वासना मनको बना सुखसे विचरना चाहिये ।
सब कर्मका फल त्यागना, माना यही संन्यास है ॥ ममता अहंता छोड़कर निर्भय विचरना चाहिये ॥

(५)

(१०)

संसार यह निस्सार है, ईश्वर भजन ही सार है । ना शोक करना चाहिये, ना मोह करना चाहिये ।
सब कर्म तज ईश्वर भजे, पंडित वही हुशियार हैं ॥ जब एक अपना आप है, क्यों व्यर्थ डरना चाहिये ॥
तज राग दे, तज द्वेष दे, शब्दादि पांचो त्याग रे । भोला ! शरणलेईशका भवसिन्धु तरना चाहिये ।
मन इन्द्रियां स्वाधीन कर ईश्वर भजनमें जाग रे ॥ जन्मामरा अब तक घना, अब तो न मरना चाहिये ॥

पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराजके

सदुपदेश

लोभका अन्त नहीं है, लोभका पहाड़ इतना बड़ा ऊँचा है कि—उसे सहसा कोई लाँघ ही नहीं सकता। लोभ बड़ा भारी शत्रु है, वह विवेकवती बुद्धिको भी भ्रममें डाल देता है। पदार्थ-संचयसे लाभ दूर नहीं किया जा सकता, परन्तु वह अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, विचारा लोभग्रस्त जीव जाग्रत्की तो बात क्या? किन्तु स्वप्नके भी कल्पित-पदार्थों के लिये पागल कुत्तेकी तरह इधर उधर भटकता रहता है, शान्ति तो वह स्वप्नमें भी नहीं पाता।

× × ×

‘कामनाओंके कारण ही चित्तमें अनेक प्रकारके दुःख होते हैं, जिसकी कामनाएँ मर गयी हैं, उसे दुःख क्यों होगा?’

‘जबतक परिच्छिन्न-अहंकार अस्त नहीं होता, और सहज समाधि प्राप्त नहीं होती, तबतक सगुण-ईश्वरका ही अनन्य भावसे भजन करना चाहिये।’

‘जब आपके भीतर सत्संगति की भूख उठेगी, तब आपकी ईश्वरमें श्रद्धा हो जायगी, और श्रद्धा होते ही आप निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहेंगे।’

‘जब तक पूर्ण बोध न हो जाय, और देहाध्यासकी निवृत्ति न हो जाय, तबतक विहित-कर्म का परित्याग कदापि न करना चाहिये।’

× × ×

‘भोग्य-वस्तुओंमें वासनाका उदय न होना ही वैराग्य की अवधि है, चित्तमें अहंकारका सर्वथा उदय न होना ही बोधकी अवधि है, और लीन हुई वृत्तियोंका पुनः उत्पन्न न होना ही उपरामताकी सीमा है।’

‘जिन्हें भगवान्‌के मिलनेकी चाह है, उन्हें संसारकी समस्त-इच्छाओंकी जड़ वैराग्यरूपी दृढ़ शस्त्रसे बिल्कुल काट डालनी पड़ेगी।’

‘दुरे संस्कारोंके बदलनेका यह एक ही उपाय

है कि—निषिद्ध-कर्मोंके त्यागपूर्वक सत्संग करना तथा परमात्म-प्राप्तिके लिए दृढ़ संकल्प करना।’

‘मन्त्रदातागुरु, मन्त्र तथा मन्त्र प्रतिपाद्य इष्ट-देवता, इन तीनोंको भिन्न समझकर साधन करनेसे वास्तविक सिद्धि प्राप्त नहीं होती।’

× × ×

‘एक-दूसरेसे मेल रखना, तथा एक-दूसरेकी उन्नति-चाहना सुखका कारण है, ईर्ष्या, द्वेष, परो-त्कर्षासहिष्णुत्व आदि दुःखके कारण हैं।’

जहां सुमति तहँ सम्पत्ति नाना जहां कुमति तहँ विपत्ति निदाना

‘जगत्का रूप सभीके लिये परिवर्तनशील है, कभी किसी प्रकारका हो जाता है, तथा कभी उससे विपरीत प्रकारका; अतः संसारके दुःखसे और सुखसे दुःखी-सुखी न होना चाहिये, किन्तु सर्वदा सन्तुष्ट-शान्त एवं प्रसन्न रहना चाहिये।’

× × ×

‘विज्ञानानन्दधन एक चेतन-परमात्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है’ इस प्रकारकी दृढ़ धारणासे अनुकूल ज्ञान एवं प्रतिकूल-ज्ञानका अत्यन्ताभाव हो जाता है।’

‘गुरु और शास्त्र तो केवल पथ-प्रदर्शक हैं, किन्तु उस पथपर चलनेके लिये आपको अपनी-जोशमरी शक्ति लगानी पड़ेगी।’

‘जिसने अपने अन्दरके आनन्दनिधि भगवान्‌की विमल छायामें विश्राम नहीं पाया, उसको अन्यत्र कहीं भी विश्राम नहीं मिल सकता।’

‘अन्यके सम्पर्कसे विश्राम तो क्या मिलेगा खाक? किन्तु दुःख, कष्ट, निराशा, यही सब कुछ मिलता रहेगा।’

‘इसलिये बाहरकी वस्तुओंमें विश्राम न ढूँढ़-कर अपने ही अन्दर विश्राम ढूँढ़ो।’

× × ×

‘चराचर जो कुछ भी दृश्य है, वह सब मनः कल्पित है, जब तत्त्व-चिन्तनके प्रचण्ड-अभ्याससे

मन-अमन हो जाता है, तब उस समग्र द्वैतप्रपञ्चका अनुभव मिट जाता है ।'

'आत्मज्ञान सम्पादन करना, और आत्म-तत्त्वके पूर्णानुभवमें स्थिर रहना, मनुष्यमात्रका सबसे पहिला एवं प्रधान कर्तव्य है ।'

'सदाचारका सतत अनुसरण करो, सद्बिचार को हृदयसे अलग न होने दो, फिर किसीसे डरनेका कुछ भी कारण नहीं है, तुम्हारा अनिष्ट कोई भी नहीं कर सकता ।'

'श्रद्धावान्, तत्पर एवं जितेन्द्रिय पुरुष हो भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थ रूपसे जाननेमें समर्थ हो सकते हैं ।'

'मैं क्या वस्तु हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? इस संसारमें किस कार्यके लिए आया

हूँ ? क्या करना चाहिये था ? मेरी भलाई क्या है ? और किसमें है ? मेरा निज स्वभाव क्या है ? और कैसा होना चाहिये ? इन सब प्रश्नोंपर सावधानतापूर्वक विचार करना चाहिये ।'

'ईश्वरपर विश्वास रखो, प्राप्त दशामें सन्तुष्ट रहो, अपने जीवनको मधुर बनाओ, सर्वत्र कल्याण-भावनाका वितरण करो ।'

'आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्'

अर्थात् जो काम अपने लिये प्रतिकूल समझते हो, जिसे तुम स्वयं नहीं चाहते हो, वह दूसरोंके लिए भी मत करो ।'

×

×

×

(क्रमशः)

हम असफल क्यों ?

[लेखकः—श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल, शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य, कविरत्न]

कौन नहीं जानता कि-हमारे उद्धारके निमित्त आजसे नहीं, अनेक शताब्दियोंसे भिन्न-भिन्न विचार वाले, देश-भक्त, विद्वान्, साधु-महात्मा, ऋषि-मुनि समय-समय पर अनेक कष्ट सहन कर अनिर्वचनीय, शुद्ध-शान्तिमय-कभी कभी अत्यन्त उत्तेजना पूर्ण, उपदेश-रत्न प्रकाशित करते आये हैं। अनेक वीरोंके जीवन-चरित्र आज भी भावुक हृदयके भव्य-मनो-मन्दिरमें देदीप्यमान होकर चञ्चलाकी एक रेखासी छोड़ जानेमें समर्थ हैं। मनुष्यजीवनके 'अथ' से 'इति' तक प्रत्येक अध्यायमें अपना अनुपम प्रभाव परिपूर्ण करनेमें वस्तुतः जो सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं। "मनुष्यका अपना कर्तव्य क्या है ?" इस जटिल प्रश्नकी गुथियों को सुलझानेका पवित्र कार्य जिन्होंने निरन्तर करनेमें कभी भूलकर भी असफलताका आँचल नहीं पकड़ा, जिनके परम-गंभीर औदार्यकी प्रतिद्वन्द्विता करनेमें किसीका साहस ही नहीं है; ऐसे विज्ञ-जनानुमोदित उपदेशोंसे अपना साहित्य अलङ्कृत है।

किन्तु आश्चर्य और परम आश्चर्य तो यह है कि-हम सब यह सब होते हुए भी अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेमें अपनी वास्तविक समुन्नतिकी ओर अप्रसर होनेमें प्रायः अपने आपको असफल ही पाते हैं, और कितना भी कोई अमूल्य उपदेश हमें सुनाये, हम उस पर चलना अच्छा नहीं समझते, मानो दरिद्रता हमारा पैर पीछे खोंच रही हो। हम अपने ही नेत्रोंसे एक मार्ग पर चलते हुए पुरुषका पतन देखकर भी अपने पतनका ध्यान न रखकर उसीके पदचिन्हों का अन्ध-अनुकरण करनेमें सङ्कोच नहीं मानते, प्रत्युत ऐसा करनेमें अपनेको वीर समझनेका दुःसाहस तक करने लगते हैं। क्या यह आश्चर्य नहीं है ?

महापुरुषोंका सिद्धान्त है—"पुरुष अपने भाग्यका निर्माण स्वयं करता है, अपने दुःख-दारिद्र्यका दलन करना उसका अपना कर्तव्य है, असीम-सुखराशिका उपभोग उसके अपने वशका काम है वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, चाहे गिरे अथवा उठे ! उसका निर्गमन

प्रवेश सर्वत्र उसीके सञ्चित कर्तव्योंसे हो सकता है, और यह ध्रुव-सत्य है।” इत्यादि।

पर इस सिद्धान्त पर चलनेवाले आज अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं। आज हम सब प्रायः उस नाविक की ‘नाव’ के समान हो रहे हैं, जो वायु-वेगसे प्रवाहित होती है। थोड़ेसे भी हवाके झोंकेसे वह विपरीत-गति होजाती है। उसके सञ्चालकके वशका कार्य ही नहीं रहता, कि-वह उसको अपने लक्ष्य पर ले जा सके। यही दशा हमारी है। आज पूर्वकी हवा आई तो हम उधरको हो लिये, कल पश्चिमकी तो हम पश्चिमकी ओर वे रोक-टोक दौड़ पड़े। फिर सोचने समझनेका मतलब नहीं है। क्या यह कम आश्चर्य है?

जिनके पूर्वज नर-रत्नोंने कठिन तपस्याके आचरणसे अपनी भावि-सन्तति (हमारे) के लिये प्रत्येक समय पर काम देनेवाले, अच्छेसे अच्छे वीर-भटको धत्तशायी बना देनेवाले, ज्ञान-विज्ञान-आस्तिक्य परिपूर्ण उपदेश-शस्त्रास्त्र सुसज्जित कर देनेमें कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, वही आज अपने घरको भौंकते भी नहीं, और औरोंके मुखापेक्षी बनकर अपना जीवन निर्यापन करनेमें लीन हैं, उसीमें मस्त हैं। यदि कोई अपने घरका ध्यान भी दिलाये तो मूर्ख ठहराकर उसका उपहास किया जाता है, किसी भी मत, किसी भी जाति अथवा किसी भी व्यवसायके मानव-समाजपर दृष्टि-निक्षेप कर लीजिये, कुछ कालके अनन्तर ही असफलता प्रतीत होने लगती है। औंधे-मुँह गिरते दिखाई पड़ते हैं। इधरसे उधर, उधरसे इधर दौड़-धूप करनेमें ही अमूल्य-जीवन पानीकी तरह बहा दिया जा रहा है।

क्या हम लोगोंकी इस अनोखी चाल पर, इस कदर्याचार पर हमारे पूर्व-पुरुषोंकी आत्मा आँसू न बहाती होंगी? क्या वे यह न सोचते होंगे कि-“हमने कितने कष्टोंसे ये दिव्यविभूतियाँ इन अपने आनेवाले

बच्चोंके लिए छोड़ी थी कि-इनके जीवनके पन्ने प्रत्येक उपदेशसे रंगे रहें, और ये सब उनसे सफल हों ओह? यह सब दारुण-ताण्डव कैसा? ये कहाँ जा रहे हैं? इनको अपने सर्वतोमुख विनाशका ध्यान तक भी नहीं है।” इत्यादि।

हमारे सामने अपना पूर्व इतिहास है सही पर वह न होनेके तुल्य है। हम उससे कुछ लाभ ही नहीं उठा रहे हैं। या तो हम प्राचीन-विभूतियोंका आदर ही नहीं करते, करते भी हैं तो ठीक उनके प्रतिकूल। फिर चाहें हम सफलता। यह भी कैसी बे सिरपैरकी मञ्चाक्र है! और हाँ, इसके विपरीत अन्यदेशवासी हमारे बाप-दादाओंकी बातोंको खोज-खोजकर उनपर चलते रहते हैं, और सफल भी होते हैं। इसका कारण क्या यह नहीं है? कि-हममें कुछ न्यूनता अवश्य है। हममें वैध-आचरण करनेका साहस ही नहीं है। और जिनमें है, वह सफल हैं और खूब सफल हैं।

जब हम सोचते हैं, तो इसका एकमात्र कारण हमारी शिक्षा-विधिकी दुर्गुणता ही दृष्टि-गोचर होती है। आज हमारे लिये उस दिव्य-ज्ञानका अर्जन करने के लिये पर्याप्त साधन हैं कहाँ? हमारे लिये उन दिव्य-उपदेश-रत्नोंके संग्रहका प्रकार सिखानेवाले हैं कौन और कहाँ? उनका अनुष्ठान हो कहाँ रहा है? वास्तविकरूपसे हमें उठाय़ा कहाँ जा रहा है? क्या बालक बिना कुछ सिखाये स्वयं शिक्षित हो सकता है? कदापि नहीं। हम समयको दोष दिया करते हैं। यह किसी अंशतक ठीक हो सकता है, पर सर्वांशमें यह तथ्य नहीं हो सकता। बस, हम असफल क्यों हैं? इस एक प्रश्नका उत्तर हमारे विचारसे तो एक-मात्र यही है कि-हम अनुष्ठान-अभ्याससे विरक्त हैं। वह अनुष्ठान-शिक्षा-विधि सर्वथा है ही नहीं। थोड़ी बहुत कहीं है भी तो उस नाममात्रकी शिक्षा-विधिसे लाभ क्या है? शिक्षा से हमारा यह अर्थ कदापि नहीं है, कि हम

किसी एक विषयकी आचार्य-परीक्षाके ग्रन्थोंको कण्ठ कर परीक्षामें सफल होकर उपाधिसे सुसज्जित हो जायें। फिर चाहे वह उपाधि पूर्व-शास्त्र की हो अथवा पश्चिम-शास्त्र की।

नहीं, कदापि नहीं, हम इस शिक्षा को शिक्षाका पूर्व-अङ्ग अथवा साधन-मात्र कह सकते हैं। शिक्षाका सीधा सादा और स्पष्ट अर्थ है—मानव हृदयका विकास, धार्मिक भावनाओंसे मनो-मन्दिरका प्रकाश, प्रत्येक देशवासी अपना कर्तव्य पालन करनेमें पूर्ण सचेष्ट रह सके, चाहे वह जिस श्रेणीका हो। क्या हम उन विद्यार्थियोंसे देशकी, धर्मकी, समाजकी, अथवा उनकीही उन्नतिकी आशा कर सकते हैं, जिनका कोई निश्चित पथही नहीं है। जिनका अधिक जीवन दुर्गन्ध-पूर्ण दुराचारके गड्ढेमें पड़े-पड़े बीतता हो? जिनके हृदयमें यह ध्यान भी न हो कि—“विद्यार्थी ही देशके उत्थानकी सामग्री है। किसी भी देश की नागरिकताके भव्य-भवनका निर्माण विद्यार्थियोंकी पुष्ट-भित्तियोंपर ही अवलम्बित है। देशका उत्थान एवं पतन सच्चे नागरिकोंपर निर्भर है। सच्चे कर्तव्यपरायण नागरिक विद्यार्थी ही बनेंगे। वे सुधर गये तो समस्त देश सुधर गया। योग्य स्नातक किसी भी देशकी जान है। मुकुटकी शोभा मणियोंसे ही होती है। विद्यार्थी न केवल अपने माता पिताकी प्रत्युत समस्त देशकी निधि है, उन्नति-कुल्याका मूल स्रोत हैं, आशालताका कमनीय अंकुर है। कालान्तरमें सफल होकर अपने आश्रितोंका अवलम्ब है। वह एक दिव्य ज्योति है, जिसके न रहनेपर देश-धर्म जाति-उन्नति आदि सभी अन्धे हैं। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि—प्राण-पणसे अपने व्रतका अनुष्ठान उचित रूपसे करें। हमारा जीवन हमारे लिए नहीं औरोंके लिये है। हमारा जीवन देशकी थायी है। इसके किसी भी अंग या अंशको नष्ट-भ्रष्ट कर देना जघन्य-कर्म होगा।” इत्यादि।

आजका विद्यार्थी-जीवन कैसा है? यह किसीसे छिपा नहीं है।

किन्तु अपने सिद्धान्त ऐसे न होने चाहिये। गुरु-जनोंको भी सुधार करना चाहिये। उनके आचार विचारका प्रभाव छात्रों पर पड़े बिना रह नहीं सकता। हां, छात्रोंको अपना सुधार करनेमें तो अविलम्ब उद्यत हो जाना उचित है। गुरु-जन तो जैसा होना था हो चुके! और इतना ही नहीं शिक्षा-संस्थाओंके प्रबन्ध तथा शिक्षक गुरुजनोंकी भी बुरी दशा है। जीवनके प्रत्येक अंगमें विकृति है। रईसे रही विचार का सञ्चार उनकी ओरसे विद्यार्थी-कल्पद्रुममें हो रहा है। किसीकी निन्दा नहीं है। हृदय की आहें हैं। वास्तवमें जबतक हम अपने दुर्गुणोंसे अपने आपको ढके रहेंगे, तब तक हम उन्नत नहीं हो सकेंगे; यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। व्यर्थका आडम्बर चिरस्थायी नहीं होता। हम धर्मका नाम लेकर कोरा अधर्म कर रहे हैं। जब आत्म-नैर्मल्यही न हो सका तो धर्म अथवा शिक्षाका क्या अर्थ है? धर्मका वास्तविक रूप उस समय तक प्रतिभासित नहीं होता, जब तक कपट को स्थान मिला है। धर्मही प्राण-सञ्जीवन है, दिव्य-महौषधि है। किन्तु उसका पालन बिना सद्भावनाओंके नहीं हो सकता। वे भावनाएँ किसी भी सुन्दर-सर्वाङ्ग-सुन्दर-शिक्षा संस्थाके बिना उपलब्ध नहीं हो सकती हैं। पवित्र विचार ही सर्व-श्रेष्ठ सम्पत्तियोंका प्रधान निदान है। जहाँ यह नहीं, वहाँ कुछ भी नहीं। प्राचीन इतिहास इसके साक्षी हैं। आदि कालसे आज तककी स्थितिका सिंहावलोकन कीजिये, आपको कोई भी निदर्शन ऐसा न मिलेगा, जो इस सिद्धान्तका पोषक न हो। हमें हमारे साहित्यमें प्राचीन असुरोंके उदाहरण मिलते हैं। उनको उच्चजाति एवं उच्चवंशमें उद्भूत लिखा गया है। बल-वीरतामें वे अनुपम कहे गये हैं।

(क्रमशः)

भगवत् प्राप्तिका सरल साधन

(लेखक—भक्त रामशरणदास जी पिलखुवा)

इस संसारमें सभी प्राणी सुख चाहते हैं। चींटीसे लेकर हाथी तक, और बच्चेसे लेकर बूढ़े तक, और गरीबसे लेकर राजा महाराजा तक, सब ही सुख चाहते हैं। सभी सुख की तालाशमें हैं। लेकिन सुख किसीको भी नहीं मिलता, सभी हाथ मलते रह जाते हैं, सभी दुःखी हैं। गरीबसे जाकर पूछिये तो वह कहेगा कि—मैं गरीब हूँ—तंग रहता हूँ, भला मुझसा दुःखी कौन होगा। अमीरसे जाकर पूछिये वह कहेगा—मेरे पीछे बहुत भंडा है, भला मुझसा दुःखी कौन होगा। राजा महाराजासे जाकरके पूछिये वह कहेगा कि—हमें डर रहता है कि—कोई हमारे ऊपर चढ़ाई न करदे, और हमें हरा कर हमारा तमाम राज्य न ले ले। कोई कहेगा कि मेरे बेटा नहीं, कोई कहेगा कि—धन नहीं, कोई कहेगा कि मुझे बीमारी लगी हुई है। कोई कहेगा मुझे एक मुक-हमेंका भय है, कोई कहेगा मेरी संतान मेरा कहना नहीं मानती, कोई कहेगा कि मुझे हर समय दुश्मनों का भय बना रहता है, आदि २ सब ही रोवने रोवेंगे, और अपनेको महादुःखी बतावेंगे। फिर भी ज़मींदार काश्तकारका खून चूसता है सुखके लिये, वकील लोग भूँठ तोफान बोलते बुलवाते हैं सुखके लिये, चोर डाँकू चोरी और डाँका डालते हैं सुखके लिये, धनी निर्धन को सताता है सुखके लिये, कहनेका तात्पर्य यह है कि—सभी प्राणी सुखकी खोजमें बावले कुत्तेकी तरह लगे हुये हैं। और उसके लिये बुरेसे बुरा कर्म करनेमें तक नहीं सक्काते। भला इस अनित्य संसारमें धन, धाम स्त्री, पुत्र, मालखजानोंमें सुख होता तो सबही को कभी का सुख हो गया होता, दुःखी कोई भी दिखाई नहीं देता। फिर भला श्रीगोपीचन्द राजपाटको क्यों त्यागते? भरथरी बन २ क्यों घूमते, भक्त प्रह्लाद इतने कष्ट क्यों

उठाते, विभीषण भाईसे वैर क्यों बांधते, मीरा जहर का प्याला क्यों पीती, ध्रुव तपस्या क्यों करते, श्री हनुमान् छातीको क्यों फाड़ते, सूरदास नैनोको क्यों फोड़ते, श्री भगवान बुद्ध जंगलमें न रहते, हरिश्चन्द बाजारोंमें क्यों बिकते फिरते, ईसा फाँसी पर क्यों चढ़ाये जाते, सुकरात क्यों मरने को तैयार हो जाते, सभी इतने कष्ट न उठाते। इस संसारमें सुख तो लेश-मात्र भी नहीं है। चाहे तुम कितना ही तालाश करो। चाहे बालूको कितना ही पेलो तेल नहीं निकलेगा, पानी को कितना ही विलोयो मक्खन नहीं निकलेगा, इसी प्रकार विषयोंमेंसे सुख नहीं निकलेगा नहीं निकलेगा नहीं निकलेगा, यह बात संतोंने डंकेकी चोट कह दी है।

आज कल कुछ भारतीय हिन्दू लोग अंग्रेजी की नकल इस सुखके लिये करने लगे हैं, कोट, बूट, पतलून, नकटाई पहिन्ते हैं, बीड़ी सिगरेट पीते हैं, होटलों में चाय, बिस्कुट, डबलरोटी, मांस, मदिरा खाते पीते हैं, और पूरे पूरे ईसाई बने हुये हैं। सारा दिन अपने शरीर को सजाने, बाल बनवाने तेल फुलेल लगानेमें ही लगा देते हैं। लेकिन सुख उन्हें भी नहीं मिला और न मिलेगा। एक संत ऐसोंके लिये कहते हैं—

राम नाम नहीं छेत हैं, रच-रच बांधे पाग।

तुलसी तिनकी देह छलि, चोंच संभारे काग ॥

कूकर झूकर करत हैं, खान पान तनु भोग।

यह तनु वृथा न खोइये, तुलसी भजने योग ॥

क्यों वृथा अपने शरीर को सजा रहे हो, यह तन एक दिन मिट्टीमें मिलेगा ही तब फिर क्यों समय वृथा खाने पीनेमें गँवा रहे हो। खाने पीनेमें सुख होता तो सूकर भी खाते पीते ही हैं। यह शरीर बड़े पुण्यसे प्राप्त हुवा है इसे व्यर्थही न खोवो।

सो जब इनमें सुख नहीं है तो तुम कहोगे कि क्या सुख है ही नहीं ? सो मैया, सुनो ! सुख तो है और अवश्य है, लेकिन जिसे तुम सुख समझते हो वह सुख नहीं है, वह तो दुःख की खान है। सुख है सुख स्वरूप श्रीश्री भगवान् कृष्णमें, उसी तुलसी सूर मीराके प्यारे में। अगर सुख चाहते हो तो श्री भगवत् प्राप्ति का उपाय करो तब ही सुख स्वरूप श्री भगवान् की प्राप्ति होगी और तुम सदा सर्वदाके लिये सुखी हो जावोगे। भगवत् प्राप्ति का सरलसाधन क्या है ? क्या योग, यज्ञ, तप, ज्ञान, ध्यान दानादि। सो मैया हां यह भी भगवत् प्राप्ति के साधन हैं, और इनसे भी पहिले युगोंमें भगवत् प्राप्ति हो चुकी है। और अब भी इनसे कर सकें वह धन्य हैं। लेकिन हम कलियुगी जीवोंसे जो कि-विषयोंके कीड़े हैं उनके लिये यह करना आसान नहीं, बल्कि हो ही नहीं सकते हैं। जरा सच्चे हृदयसे विचारिये तो कि-क्या हम इन साधनोंके करने के अधिकारी हैं ?

योग—

जबही हो सकता है कि जब हम पूर्ण ब्रह्मचारी हों, एकाम्र मनहो, आदि २ सो होना ऐसा बड़ा मुश्किल है। आज कल छात्रोंकी क्या दशा है, वह कैसे ब्रह्मचारी हैं सभी जानते हैं। और फिर योगके जाननेवाले सच्चे गुरु मिलने बड़े कठिन हैं। बिना गुरुके योग कैसे ? और किससे सीखा जावे। अनारीसे सीखनेसे हानि ही है लाभ नहीं।

यज्ञ—

में शुद्ध घृत की आवश्यकता है सो शुद्ध घृत मिलना कठिन है। चरबी मिश्रित घृत मिलता है। विद्वान् ब्राह्मणों की जरूरत है और साथ ही में सदाचारी भी हों। हाल तो ऐसे समयमें यह सब बातें हो ही नहीं सकती हैं, अगर यह हो भी तो यह सब बातें धनसे होगी। धन हर एकके पास नहीं, और जिसके

पास धन है वह धनके मदमें चुर है, तो फिर भला यज्ञ कैसे बन सकता है। और जहाँ पहिले घर घरमें हवन, यज्ञके धुंवे निकला करते थे, आज वहां पर अब हुक्के-वीड़ीके धुंवे निकलते हैं, तो उनके बन्चांमें श्रद्धा ही कैसे हो सकती है। और जो हवन आदि कुछ करते भी हैं सो वह खाली दृष्टा शुद्ध होती है यह भाव लिये हुये हैं।

तप—

भला जब हम लोग ब्रह्मचारी नहीं, थोड़ी २ दूर जानेको भी साइकिलकी आवश्यकता होने लगी है, बहुत कमजोर और रोगी हो गये हैं। थोड़ी सी धूपमें भी छातेकी आवश्यकता रहने लगी है, तो फिर भला वनोंमें घोर जंगलोंमें जाकर कड़ी धूपमें-जाड़ेमें खड़े होकर तपस्या करना हमसे कैसे हो सकता है ! और जब हम लोग सुबह २ ही उठकर बिना न्हाये धोये विस्कुट, डबलरोटी, चाय आदि खाते पीते हैं तो भला जंगलोंमें हमसे कैसे भूखे रद्दा जायेगा। और जब हम लोग अपना सारा समय बाल बनवाने, तेल फुलेल लगाने और शरीर को हर प्रकारसे सजानेमें लगा दैते हैं तो भला हमसे वनोंमें जटा बढ़ाकर, शरीर पर भस्म लगा कर तपस्या कैसे हो सकती है ?

ज्ञान—

आज कल 'अहं ब्रह्मास्मि' २ कहने वाले और अपने को ब्रह्मज्ञानी मानने वाले, और औरोंको भक्ति छुड़ाकर 'अहं ब्रह्मास्मि' याद करानेवाले तो बहुत हैं। और 'जो चाहें सो पाप करें हमें कोई पाप नहीं लगेगा' ऐसे कहनेवाले तो बहुत हैं, लेकिन ऐसे इन झूठे बकवादी ब्रह्मज्ञानियोंके ब्रह्मज्ञानसे क्या लाभ होगा ? जहां स्त्रियोंके चित्र भी ब्रह्मज्ञानके साधकोंको देखना पाप लिखा हो, वहां पर उसी जगह स्त्रियोंको रखते हों और अपने को ब्रह्मज्ञानी मान कर फूले अंग न समाते हों तो ऐसे पशु जीवनसे क्या लाभ ? ऐसोंको गुरु बनाना भी अपने को खड्डेमें डालना है। औरोंको विषयोंसे बचावें और आप विषयोंमें फँसें, इससे कुछ भी भला न होगा। किसी चीजमें जिसे राग न हो वह ही ब्रह्मज्ञानी हो सकता है। तो सोचो क्या हम ऐसे हैं ?

(क्रमशः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादश्रीसर्वज्ञात्ममुनिप्रणीतम्

संक्षेप-शारीरकम्

पूर्व प्रकाशितसे आगे

वेदान्तवाक्यरूप प्रमाणसे उपपन्न प्रत्यगभिन्नब्रह्म ज्ञानको अन्यप्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। और प्रत्यगभिन्नब्रह्म ज्ञानसे अन्य-ज्ञान तो वेदान्तसे होता नहीं, जिसके लिये अन्य प्रमाणकी अपेक्षा होवे, 'विचार प्रमाणका अंग (सहायक) है' यह द्वितीय—पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि—जैसे आग्नेय आदि यज्ञोंके प्रोक्षणादि उपकारक अंग हैं, तद्वत् विचार, वेदके स्वरूपका उपकारी—अंग नहीं हो सकता क्योंकि—जैसे प्रोक्षणादिके उपकारक अंगपनेमें श्रुति, लिङ्ग आदि विनियोजक प्रमाणोंका सद्भाव है, तद्वत् विचारके उपकारक अंगपनेमें श्रुत्यादि—विनियोजक प्रमाणोंका सद्भाव नहीं है। और वेदका स्वरूप तो स्वतःसिद्ध है, अतः उसमें किसी उपकारक—अंगका उपयोग सिद्ध भी नहीं हो सकता है।

अस्तु तर्हि प्रयाजादिवत्परमात्मज्ञानोत्पत्ता-

वारादुपकार्यङ्गम्, तदुक्तम्—'इतिकर्तव्यताभागं

मीमांसा पूरयिष्यति' इति, 'प्रमाणानामनुग्राह-

कस्तर्कः' इति च, तन्न । प्रयाजादिभिराग्नेया-

दिषु फलानुकूलशक्तिवत् वेदे तत्त्वसाक्षात्कार-

जननानुकूलशक्तेराधानाभावात् । न हि वाक्य-

स्योत्पत्तिकार्थप्रकाशनशक्त्यतिरेकेण विचाराधेयं

किञ्चिदस्ति । तदङ्गत्वावेदकप्रमाणाभावस्योक्त-

शंका—अस्तु जैसे आग्नेयादि यज्ञके प्रयाज, अनुयाज आदि आरात् (दूरसे) फलोपकारक अंग हैं, तद्वत् परमात्म-ज्ञानकी उत्पत्तिमें विचारको आरात् उपकारक अंग मानना चाहिये । भट्टपादने तथा तार्किकोंने कहा भी है—

'इतिकर्तव्यता—(करणव्यापार) भागको मीमांसा (पवित्र-विचार) पूर्ण करेगी।' 'विचाररूपतर्क प्रमाणों का अनुग्राहक (सहायक अंग) है इति !'

समाधान—जैसे आग्नेयादि—यज्ञोंमें प्रयाजादि द्वारा फलानुकूलशक्तिका आधान (सम्पादन) किया जाता है, तद्वत् वेदवाक्योंमें विचारद्वारा तत्त्व-साक्षात्कार रूप फल की उत्पत्तिके अनुकूल शक्तिका आधान नहीं किया जाता है, अतः वेदवाक्योंमें अर्थ—प्रकाश करनेकी स्वाभाविक शक्तिसे अतिरिक्त विचारसे आधेय कुछ भी नहीं माना जाता है । इसलिये दृष्टान्त—दार्ष्टान्तिकमें विषमता होने के कारण पूर्वोक्त—शंका ठीक नहीं है । और 'वेदान्त प्रमाणका विचार अंग है' इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं

त्वाच्च । करणोपकारस्य शक्त्यादिज्ञानेनैव सिद्धेश्च । उभयत्र साधारणं प्रागुक्तं दूषणं स्मारयति । सापेक्षतेति । आपततोतिच्छेदः । तथात्वे विचारस्य करणत्वेऽङ्गत्वे वा तत्सापेक्ष-त्वापतनं न युक्तं प्रागुक्तन्यायेनेत्यर्थः ॥ १८ ॥

यत्तु तात्पर्यज्ञानं नियतान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यार्थज्ञाने कारणं शक्तिज्ञानादिवत्-तच्च विचाराधीनमिति विचारस्याङ्गत्वमिति तत्राह —

है, यह प्रथम कह आये हैं । वेदान्त-प्रमाणका उपकार शक्तिज्ञानादिसे ही सिद्ध है । विचारको करण स्वीकार करनेमें तथा अङ्ग-स्वीकार करनेमें प्रथम कहा हुआ साधारण-दूषण स्मरण कराते हैं—सापेक्षता इति' आप-तति' ऐसा यहां च्छेद है । तथात्वे यानी 'विचारको करणत्व तथा अंगत्व मानने पर' प्रथम कहे हुए न्याय से वेदवाक्योंमें सापेक्षत्वकी आपत्ति होगी, सो ठीक नहीं है, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

'प्रथम जो शंका की थी कि—'शक्तिज्ञानादिकी तरह नियत-अन्वय एवं व्यतिरेकके होनेसे वाक्यार्थ ज्ञानमें तात्पर्यज्ञान कारण है, और वह तात्पर्यज्ञान विचार के अधीन है, अतः तात्पर्यज्ञान द्वारा विचारको वाक्यार्थ ज्ञानका हेतु अवश्य स्वीकार करना चाहिये ? इस शंका का समाधान करते हैं—

व्युत्पन्नस्य हि बुद्धिजन्म सहसा वाक्यश्रुतौ दृश्यते ।
वाक्यार्थे न ततोऽस्ति बुद्धिजनने मीमांसनव्यापृतिः ॥
तेनार्थात्करणादिभावभजने मीमांसनस्याश्रिते ।
वेदार्थप्रमितौ तु वेदवचसः सापेक्षताऽऽयास्यति ॥ १९ ॥

वाक्यका श्रवण होने पर शक्ति-ज्ञानादिवाले-व्युत्पन्न पुरुषको विचारके विना शीघ्र ही वाक्यार्थ विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये वाक्यार्थ-ज्ञानकी उत्पत्तिमें विचारका उपयोग नहीं है । अंगरूपसे या करणरूपसे विचारको वाक्यार्थज्ञानका उपयोगी होनेसे 'अर्थात्' यानी प्रतिबन्धनिवृत्तिकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा वेदार्थज्ञानमें विचारको करण या अंग मानने पर वेदवाक्यमें सापेक्षत्वरूप परतःप्रामाण्य आ जायेगा, जो किसी भी प्रकारसे अभीष्ट नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥

व्युत्पन्नस्येति । सहसा = झटिति, विनैव तात्पर्यज्ञानाभावनिमित्तविलम्बं । व्युत्पन्नस्य = शक्त्यादिज्ञानवतः, वाक्यस्यश्रुतौ = श्रवणे । ततः = नियतान्वयव्यतिरेकाभावात् । मीमांस-नस्य=तात्पर्यज्ञानस्य तदर्थविचारस्य च वाक्यार्थ-बुद्धिजनने न व्यापृतिर्नोपयोग इत्यर्थः ।

व्युत्पन्नस्येति । सहसा यानी झटिति शीघ्र, अर्थात् तात्पर्यज्ञानका अभाव प्रयुक्त विलम्बके विना ही । शक्ति आदि ज्ञानवालेको, वाक्यके श्रवण होनेपर । ततः यानी नियतान्वय-व्यतिरेक न होनेके कारण, तात्पर्यज्ञानका तथा तात्पर्यज्ञानके लिये किये हुए विचारका, वाक्यार्थज्ञानकी उत्पत्तिमें, उपयोग नहीं है ।

एतदुक्तं भवति—नहि तात्पर्यज्ञानं निय-
मेन वाक्यार्थज्ञानात्पूर्वं संभवति । गवानयनादि-
वाक्यश्राविणां तज्ज्ञाननैपत्याभावात् । न हि
तदा तात्पर्यव्याप्तलिङ्गज्ञानं तेषामस्ति, समभि-
व्याहारमात्रस्य 'अहो विमलं जलं नद्याः, कच्छे
महिषश्चरन्ति' इत्यत्रानन्वितयोर्नदीकच्छयोरपि
दर्शनेन तदलिङ्गत्वात् । न च यत्रैकवाक्यत्वं तस्य
वाक्यस्य विशिष्टार्थं तात्पर्यमिति वाच्यम् । तस्यापि
प्रतारकवाक्यादौ व्यभिचारात् । एकवाक्यता-
ज्ञानादेव नियतार्थज्ञानसम्भवेन तात्पर्यज्ञानस्य
तत्रोपयोगाभावाच्च ।

अर्थवादादेः प्रतीयमानार्थं तात्पर्याभावादि-
श्रयेऽपि तद्गतपदशक्त्यादि स्वारस्येन विशि-
ष्टार्थप्रतीतिश्च न तात्पर्यज्ञानं तत्र कारणम् ।

नानार्थपदप्रयोगादपि तत्तत्पदार्थोपस्थिति-
योग्यताद्यनुरोधेन कदाचित्कस्यचिदर्थस्य प्रती-
त्युपपत्तेश्च । न हि तत्र सर्वपदार्थस्मरणनियमे-
नास्ति । यत्रास्ति तत्र योग्यतादिज्ञानमस्तीति चेत् ।

यहां यह तात्पर्यार्थनिकलता है—'गामानय' आदि
वाक्योंके श्रवण करनेवालोंको नियमसे तात्पर्यज्ञान न
होनेके कारण वाक्यार्थज्ञानसे प्रथम नियमसे तात्पर्यज्ञान
का सम्भव नहीं हो सकता है । 'गामानय' आदि वाक्य
के श्रोताओंको उस समय तात्पर्यसे व्याप्त लिङ्गका ज्ञान
भी नहीं है । 'अहो निर्मल जल नदीका, तीरमें भैंसे
चर रही हैं' इस वाक्यमें नदी और तीरके समभिव्या-
हार (सह उच्चारण) मात्रका दर्शन तो है, परन्तु प्रकृत-
वाक्यमें नदी और तीरका अन्वय नहीं है, अतः सम-
भिव्याहारमात्र भी तात्पर्यका लिङ्ग (हेतु) नहीं हो सकता
है । वंचक-वाक्य, शुक्-उच्चरितवाक्य आदिमें व्यभि-
चार (तात्पर्यका अभाव) होनेके कारण "जहां एक-
वाक्यता होती है, वहां उस वाक्यका विशिष्ट-अर्थमें
तात्पर्य है" ऐसा भी व्याप्तिरूप नियम नहीं कह सकते हैं ।
एक-वाक्यताके ज्ञानसे ही नियमसे अर्थ ज्ञानका सम्भव
होनेके कारण, एकवाक्यतास्थलमें तात्पर्य-ज्ञानका उप-
योग भी नहीं है ।

अर्थवाद आदिका प्रतीयमान-अर्थमें तात्पर्यके
अभावका निश्चय होनेपर भी अर्थवाद वाक्य गत पदों
की शक्ति, आदिके स्वारस्यसे विशिष्ट-अर्थकी प्रतीति
होजाती है । अतः अर्थवादादिस्थलमें व्यभिचार होनेसे
भी वाक्यार्थज्ञानमें तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है । अनेक-
अर्थवाले हरि-आदि पदोंके प्रयोगसे भी उस उस
पदार्थकी उपस्थिति, योग्यता, प्रकरण, आदिके अनु-
सार कभी किसी अर्थकी, कभी किसी अर्थकी प्रतीति
युक्ति संगत होसकती है, और जहां नाना अर्थवाले पद
का प्रयोग है, वहां भी नियमसे सर्वपदार्थोंका स्मरण नहीं
होता है, अतः अनेक-अर्थवाले पदस्थलमें भी तात्पर्य-
ज्ञान कारण नहीं होसकता है ।

शंका—जहाँ कहीं सर्व-पदार्थोंका स्मरण है, वहाँ
कारणरूपसे योग्यताज्ञान, तात्पर्यज्ञान आदि भी तो हैं ?
अर्थात् किसी स्थलविशेषमें तात्पर्यज्ञानको भी कारण
मानना ही पड़ता है ?

युगपत्तावदर्थज्ञानमस्तु, किं तात्पर्यज्ञानेन ।
तत्तत्संसर्गघटित तात्पर्यज्ञानस्य तत्तत्संसर्गात्मक-
वाक्यार्थबोधात्प्रागनुपपत्तेश्च, न तात्पर्यज्ञानस्य
तत्र हेतुत्वं संभवतीति ।

ननु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'
इत्यादिना ज्ञानोद्देशेन श्रवणादिविधानात्कथं
तस्य तदहेतुत्वं तत्राह—तेनेति । येन कारणेन
विचारोऽङ्गतया करणतया वा न वाक्यार्थज्ञानो-
पयोगीतेनेत्यर्थः । अर्थात् = अनुपपत्त्या, करणादि-
भावभजने उद्देश्यज्ञानविशेष्यांश इति शेषः । वेदा-
र्थप्रमितौ जनयितव्यायामायास्यतीति सम्बन्धः ।

श्रुतौ द्रष्टव्यपदेन नात्मज्ञानमात्रमुद्दिश्यते
अपातात्मज्ञानस्य प्रागेवोत्पन्नत्वात्, किंत्वप्रति-
बद्धमात्मदर्शनम्, एवं च तदुद्देशेन विहितो विचारो

समाधान—अनेक पदार्थोंके स्मरण स्थलमें भी एक-साथ अर्थ ज्ञान होजायगा, तात्पर्य-ज्ञानका क्या प्रयोजन है । और उस उस पदार्थके सम्बन्ध ज्ञानरूप वाक्यार्थज्ञानके प्रथम उस उस पदार्थके सम्बन्धसे घटित तात्पर्यज्ञानकी किसी प्रकारसे सिद्धि भी नहीं हो सकती है । अतः तात्पर्यज्ञान नानार्थकपदवाले स्थल विशेषमें भी कारण नहीं हो सकता है ।

शंका—'अरे ! मैत्रेयी ! आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये, साक्षात्कारके लिये आत्माका श्रवण करना चाहिये' इत्यादि श्रुति द्वारा आत्म-ज्ञानके उद्देशसे विचार-विशेषरूप श्रवणादिओंका विधान किया गया है, तब विचार, साक्षात्कारका हेतु क्यों नहीं है ?

समाधान—जिसकारणसे अंगरूपसे या कारण-रूपसे विचार वाक्यार्थ ज्ञानका उपयोगी नहीं है, तिस कारणसे, 'अर्थात्' अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति (१) प्रमाण द्वारा, 'करणादिभावभजने' इस पदके साथ 'उद्देश्यज्ञान-विशेष्यांशे' इतना शेष पद जोड़ना चाहिये । अप्रतिबद्धज्ञान यहाँ उद्देश्य है, उसमें विशेषण अंश प्रतिबन्धकका अभाव है, तथा विशेष्य-अंश, ज्ञान है । उस केवल ज्ञानमें अर्थात् उत्पन्न करने योग्य वेदार्थ-विषयक-प्रमिति (यथार्थप्रत्यक्षज्ञान) में, वेदवाक्यको सापेक्षता आजायगी ।

आपात (संशयादिप्रतिबन्धयुक्त) आत्मज्ञान तो विचारसे प्रथम ही व्युत्पन्न पुरुषको उत्पन्न हो जाता है, अतः श्रुतिमें 'द्रष्टव्य' पदसे केवल आत्मज्ञान उद्दिष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिबन्धकरहित आत्मज्ञान उद्दिष्ट है, तथा च प्रतिबन्धरहित-आत्मज्ञानके उद्देश्यसे विधान

(१) 'श्रवणादिविधि विचारनिष्ठकरणादिभावं विनाऽनुपपद्यमाना सती तत्कल्पयतीति ।' विचारको करण या अंग स्वीकार किये विना श्रवणादि विधि, उपपन्न न होती हुई, विचारमें करणताकी अथवा अंगताकी कल्पना कराती है । यह अर्थापत्तिक स्वरूप है ।

विशेषण एव पर्यावस्यति । ज्ञानमात्रस्य प्राकृति-
 त्वस्य तत्साध्यत्वानुपपत्तेरिति श्रुतितोऽपि न
 विचारस्य ज्ञानं प्रति हेतुत्वमेति प्रागुक्तैव गति-
 रिति भावः ॥१६॥

एवं विचारात्पूर्वमापातप्रतिपन्नं ब्रह्म,
 मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यं विचारश्च प्रतिबन्धकनिवृत्ति-
 मात्रेणार्थवानित्युक्तम् ।

नन्वेवमपि जिज्ञास्यं ब्रह्म दृश्यं चेत्, घट-
 वत् अनात्मत्वात् न मुमुक्षुजिज्ञास्यं स्यात्,
 स्वप्रकाशं चेत्तस्य यथावत्प्रकाशमानतया न
 जिज्ञास्यत्वम् । न हि स्पष्टं प्रकाशमाने जिज्ञासा
 भवति । न च स्वप्रकाशमप्यज्ञानावृत्तं न यथा-
 वत्प्रकाशत इति वाच्यम् । 'अहम्' इति ज्ञानस्यै-
 वात्मयाथात्म्यविषयत्वात् । ब्रह्मणः तदविषयत्वे
 चानात्मताप्रसङ्गः । स्वप्रकाशे आत्मनि ज्ञानसा-
 ध्यप्रयोजनस्य विनाऽपि विचारं सम्भवेन विचा-
 रानर्थक्यं च ।

किं चात्मज्ञानमात्रं न विचारप्रयोजनं,
 तस्य सुखदुःखनिवृत्त्यन्यतरत्वाभावात् । तत्साध्यं

किया हुआ विचार, प्रतिबन्धकाभाव रूप विशेषणमें ही
 चरितार्थ हो जाता है । विशेयरूप ज्ञानमात्र तो विचा-
 रसे प्रथमही सिद्ध है, अतः वह विचारसे साध्य नहीं
 हो सकता है, इसलिये 'द्रष्टव्य' आदि श्रुतिसे भी आत्म-
 ज्ञानके प्रति विचार कारण नहीं है, अतः प्रतिबन्धका-
 भावका ही विचार कारण है, यह प्रथम कहा हुआ
 निर्णय ही यथार्थ है, यह भाव है ॥ १९ ॥

इसप्रकार विचारसे प्रथम आणतरूपसे जाना
 हुआ ब्रह्म मुमुक्षुओंसे जिज्ञास्य है, और विचार, प्रति-
 बन्धकदोषकी निवृत्तिमात्रसे ही सफल है; यह कहा
 गया है ।

शंका—अस्तु, जिज्ञास्य ब्रह्म यदि दृश्य है, तो
 घट की तरह अनात्मा होनेके कारण मुमुक्षुसे जिज्ञास्य
 न होगा ? यदि जिज्ञास्य ब्रह्म स्वप्रकाश है, तो उसको
 पूर्णरूपसे प्रकाशमान होनेके कारण भी वह ब्रह्म जि-
 ज्ञास्य न होगा । क्योंकि—स्पष्ट-प्रकाशमान वस्तुमें किसी
 को भी जिज्ञासा नहीं होती है । 'स्वप्रकाश भी ब्रह्म
 अज्ञानसे आवृत्त होनेके कारण यथावत् प्रकाशमान नहीं
 है' ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि—'अहं' 'मैं'
 इसप्रकारका ज्ञानही आत्माके यथार्थ स्वरूप विषयक
 है, अर्थात् 'अहं' रूपसे सबको आत्मा स्वतःभास रहा
 है, अतः उसमें अज्ञानका आवरण नहीं मान सकते
 हैं । 'अहं' इत्याकारक ज्ञानकी विषयता यदि ब्रह्ममें नहीं
 है, तो घट की तरह ब्रह्ममें भी अनात्मत्वकी प्राप्ति हो
 जायगी, और स्वप्रकाश-आत्मामें ज्ञानसे साध्य आवरण-
 निवृत्तिरूप प्रयोजनका विचारके विना ही सम्भव होनेके
 कारण विचार व्यर्थ भी है ।

किञ्च, आत्मज्ञानमात्र, विचारका प्रयोजन नहीं
 है, क्योंकि—सुख और दुःखनिवृत्ति ही प्रयोजन होता
 है, आत्मज्ञान सुख और दुःखनिवृत्ति, दोनोंमें से एक भी

चान्यत् स्वर्गादिवन्न मुमुक्ष्वभिलषितम् । संसा-

रात्मकानर्थश्च संश्रेन्न ज्ञाननिवर्त्यः असंश्रेन्नित-

राम् । अतो विषयप्रयोजनाभावान्नेदं प्रकरण-

मारब्धव्यमिति तत्राह—

नहीं है । आत्मज्ञानसे साध्य प्रयोजन, यदि सुख और दुःख निवृत्तिसे अन्य है, तो वह दुःखमिश्रित स्वर्गादि की तरह मुमुक्षुसे अभिलषित नहीं हो सकता । संसार-रूप अनर्थ, यदि सत्य है तो वह ज्ञानसे निवर्त्य नहीं हो सकता, यदि शशशृङ्ग की तरह असत्य है तो सुतरां ज्ञानसे निवर्त्य नहीं हो सकता, क्योंकि—जिसका कुछ स्वरूपही नहीं है, उसकी निवृत्ति कैसे हो ? और किससे हो ? । इसलिये विषय-और प्रयोजनके न होनेके कारण, शारीरकके विचाररूप इस प्रकरणका आरम्भ नहीं करना चाहिये ।

उपरोक्त-शंकाका समाधान श्लोकसे कहते हैं—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं, जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव ।

अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगा—दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥२०॥

एकमात्र आत्माकी ही आश्रयता एवं विषयताके बलसे आवरणशक्ति एवं विक्षेप-शक्ति द्वारा अज्ञान, स्वप्रकाश-आत्मस्वरूपका आच्छादन करके जीवत्व, ईश्वरत्व, जगत् आदि प्रपञ्चाकारसे आत्माको मिथ्याही प्रकाशित करता है ॥ २० ॥

आच्छाद्येति । आवृत्त्येत्यर्थः । अज्ञानमनादि-

भावरूपं ज्ञानापनोद्यं वक्ष्यमाणं, संस्फुरत् =

स्वप्रकाशतया निरंशतया च यथावत्प्रकाशमान-

मप्यद्वयानन्दब्रह्मस्वरूपमाच्छाद्य, विक्षिपति =

विविधं तत्स्वरूपविपरीतप्रपञ्चभावमापादयति ।

वैविध्यमेवाह—जीवित्यादिना । तृतीयेत्यम्भावे । तथा

च स्वप्रकाशस्याप्यात्मस्वरूपब्रह्मणः अविद्यया

यथावदप्रकाशमानत्वाज्जिज्ञास्यत्वमुपपद्यते । प्रयो-

जनं च जीवेश्वरत्वादिभेदकल्पनानिवृत्तिरस्तीति

काकदन्तसमं न ब्रह्मेत्याशयः ।

आच्छाद्य, का आवरण (आच्छादन) करके, यह अर्थ है । अनादि भावरूप, ज्ञानसे निवर्त्य अज्ञान है, यह आगे कहेंगे । 'संस्फुरत्' यानी स्वप्रकाशरूपसे तथा निरंश (निरवयव) रूपसे यथावत् पूर्णरूपसे प्रकाशमान अद्वयानन्द ब्रह्मस्वरूपको आच्छादन करके अज्ञान, विक्षिपति यानी अनेक प्रकारसे स्वस्वरूपसे विरुद्ध-प्रपञ्च-रूपका सम्पादन करता है । जीवित्यादिसे अनेक प्रकार-ताको ही कहते हैं—'आकृतिभिः' यह तृतीया इत्यंभाव अर्थमें है । तथाच स्वप्रकाश भी आत्मस्वरूप ब्रह्म अविद्यासे पूर्णरूपसे प्रकाशमान न होनेके कारण जिज्ञास्य बन सकता है । जीवत्व, ईश्वरत्व, आदि भेद-कल्पना की निवृत्ति ही ब्रह्मज्ञानका प्रयोजन है, अतः काक-दन्त निर्णयके समान ब्रह्मज्ञान निष्फल नहीं है, यह अभिप्राय है ।

प्रपञ्चस्य ज्ञानापनोद्यत्वमाह—मृषेति । एते-

नाद्वयानन्दब्रह्मस्वभावस्य कथं तद्विपरीतरूपेति

निरस्तम् । शुक्तिकादेरज्ञानाद्रजतादिभाववदात्मनः

प्रपञ्चभावस्याप्यज्ञानकल्पिततया मृषात्वान्न कोऽपि

दोष इति भावः । मृषात्वं च सदसद्विलक्षणत्व-

मिति न सदादि पञ्चाङ्गा दोषाः । सदसदात्मत्व-

व्यावृत्तये 'एव' इत्युक्तम् ।

नन्वज्ञानस्य सत्यत्वे कथं तत्कृतविक्षेपस्य

मृषात्वं ? मिथ्यात्वे वा कथं तस्याच्छादकत्वं ?

लोके सत्यस्यैव तद्दर्शनादित्याशङ्क्य, मृषाऽप्य

ज्ञानमर्थक्रियाकारितयाऽऽच्छादयति विज्ञापति च,

तत्कारित्वे च सत्यत्वं न प्रयोजकम्, अस-

म्प्रतिपत्तेः । किन्त्वाच्छादनाद्यनुकूलशक्तिमत्त्वं

'द्वैतप्रपञ्च ज्ञानसे निर्वर्त्य है' यह 'मृषा' इस पदसे कहते हैं । द्वैतप्रपञ्चको मिथ्या कहनेसे "अद्वयानन्द ब्रह्मस्वरूप कैसे विपरीतस्वरूपवाला होगया" इस शंका की भी निवृत्ति होगई । तात्पर्य यह है कि—जैसे शुक्तिकाआद, अज्ञानसे रजत आदिरूप हो मिथ्या ही प्रतीत होती है, तद्वत् आत्मा भी अज्ञानसे प्रपञ्चरूपसे प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्माकी प्रपञ्चरूपसे प्रतीति, अज्ञानसे कल्पित होनेके कारण मिथ्या ही है; अतः कोई भी दोष नहीं है । सद् एवं असत्से विलक्षणत्व ही यहाँ मिथ्यात्व है, इसलिये सद्असद् आदि पक्षमें कहे हुए दूषण नहीं आ सकते हैं । अर्थात् अज्ञान या अज्ञानकार्य द्वैतप्रपञ्चको सत्य कहें, तो आत्मज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, असत्य कहें तो बन्ध्या पुत्र की तरह उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होनी चाहिये, सद्-एवं असद् उभयरूप कहनेसे विरोध होता है, इत्यादि दूषण, सद् असद् विलक्षण-पक्षमें नहीं आते हैं । अतः सद्रूप एवं असद्रूपकी व्यावृत्तिके लिए श्लोकमें मृषाके साथ 'एव' पद कहा है ।

शंका—अज्ञान यदि सत्य है, तो अज्ञानसे किया हुआ द्वैत प्रपञ्चरूप विक्षेप मिथ्या क्यों ? यदि अज्ञान भी मिथ्या है, तो वह आच्छादक (ढकनेवाला) कैसे हो सकता है ? क्योंकि लोकमें सत्य-वस्तु ही आच्छादक देखी गई है ।

समाधान—मिथ्या भी अज्ञान, कार्य करनेवाला होनेके कारण, आत्मस्वरूपका आच्छादन करता है, और द्वैत प्रपञ्चको प्रकट करता है । कार्य करनेमें सत्यत्व प्रयोजक नहीं है । अर्थात् 'सत्य पदार्थ ही कार्यकर्ता होता है, मिथ्या पदार्थ नहीं होता है' यह नियम हम नहीं मानते हैं । किन्तु आच्छादन आदि कार्यके अनुकूल शक्ति ही कार्य करनेमें प्रयोजक है । स्वप्नमें देखे गये मिथ्या-पदार्थोंमें भी आच्छादन आदि कार्यके अनुकूल शक्ति

तच्च मृषात्मकेऽपि स्वप्नदृष्टे दृष्टम् । अच्छादकस्य
लोकेऽपिसत्यत्वमसम्मतमित्याशयेनाह—आवरणवि-
भ्रमशक्तियोगादिति । आवरणशक्तिविक्षेपशक्तिभ्यां
यो गादित्यर्थः आवरणशक्तिः=‘नास्त्यद्वयं ब्रह्म,
न प्रकाशते’ इति व्यवहारयोग्यता आवरणं
तत्प्रयोजकशक्तिः । विक्षेपशक्तिस्तु ‘अहंकर्ता
भोक्ता’ इत्यादिभ्रमजननशक्तिरित्यर्थः ।

नन्वज्ञानमपि शक्तिमच्चेत्परकीयप्रधानान्न
विशेष इत्यत आह—आत्मत्वेति । आत्मत्वं =
सदखण्डचैतन्यं, तन्मात्रमेवाश्रयो विषयश्च यस्य
तस्य भावस्तत्ता तद्वलेनेत्यर्थः । अज्ञानस्य
ह्यात्माश्रयविषयत्वमेव परकीयप्रधानाद् बलं =
शक्तिद्वयाश्रयत्वप्रयोजकं, न तु स्वत इति प्रधा-
नाद्विलक्षणमित्यर्थः ॥२०॥

नन्वात्मनोऽज्ञानावृत्तत्वे प्रकाशयोगात्कथं
ततोऽज्ञानान्तःकरणादिभानं, नह्यप्रकाशमान-
ज्ञानाद्विषयप्रकाशो भवति तत्राह—

देखी गई है । अतः लोकमें भी ‘आच्छादन करनेवाला
सत्य ही होता है’ यह नियम नहीं है, इस आशयसे
कहते हैं—आवरणविभ्रमशक्तियोगादिति । आ-
वरणशक्ति और विक्षेपशक्तिके सम्बन्धसे, यह अर्थ है ।
‘अद्वैत ब्रह्म नहीं है’ इसप्रकारके व्यवहारकी योग्यता,
असत्त्वापादक आवरण है, ‘अद्वैतब्रह्मका भान नहीं
होता है’ इसप्रकारके व्यवहारकी योग्यता, अभाना-
पादक आवरण है, इन दोनों प्रकारके आवरणों की
प्रयोजकशक्ति, आवरणशक्ति है । ‘मैं कर्ता हूँ’ ‘मैं
भोक्ता हूँ’ इत्यादि भ्रान्तिको उत्पन्न करनेवाली शक्ति,
विक्षेपशक्ति है, यह अर्थ है ।

शंका—अज्ञान भी यदि शक्तिवाला है, तो सांख्य-
सम्मत प्रधानसे कुछ विशेष नहीं है, अर्थात् प्रधानसे
अज्ञानका नाममात्रका भेद कहा जायगा, पदार्थ एक ही
सिद्ध होगा ।

समाधान—आत्मत्व यानी सत्, अखण्ड, चैतन्य,
ही है—एकमात्र आश्रय और विषय जिस अज्ञानका,
वह अज्ञान ‘आत्मत्वमात्रविषयाश्रय’ है, उस अज्ञानका
भाव है तत्ता, उसके बलसे यह अर्थ है । अर्थात् सांख्यके
प्रधानकी अपेक्षासे आत्माकी आश्रयता और विषयताही
अज्ञानमें बल, (विशेष) है, यानी आवरणशक्ति एवं
विक्षेपशक्तिके आश्रयताका प्रयोजक है । अज्ञान स्वतः
शक्तिद्वयका आश्रय नहीं है, और प्रधान स्वतः शक्ति-
द्वयका आश्रय है, इसलिये प्रधानसे अज्ञान विलक्षण है,
यह अर्थ है ॥ २० ॥

शंका—अज्ञानसे आवृत्त होनेके कारण, आत्माका
प्रकाश न होनेसे, उस आवृत्त आत्मासे अज्ञान, अन्तः
करण आदिका भान कैसे होगा ? क्योंकि—अप्रकाश-
मानज्ञानसे विषयका प्रकाश नहीं होता है, किन्तु
प्रकाशमान ज्ञानसे ही विषयका प्रकाश होता है ।

इस शंकाका समाधान कहते हैं—

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेन, प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः ।

प्रत्यञ्चमद्वयमशेषविशेषहीनं, विक्षिप्य तिष्ठति तदग्रहणं मृषैव ॥ २१ ॥

एकमात्र प्रत्यक् चैतन्यकी आश्रयता एवं विषयताके बलसे वह अज्ञान, प्रत्यक् चैतन्यका आच्छादन न करके, जीवत्वआदि अनात्म-विवर्तोंसे जाति आदि समस्त विशेषोंसे रहित, अद्वैत, प्रत्य-गात्माके पूर्णस्वरूपका विपरीत भान कराके स्थित है । अर्थात् आत्माका अग्रहण (आवरण) मिथ्या ही है ।

प्रत्यक्त्वेति । विषयपदमत्राविवक्षितम् । चैत-
न्यमात्रं यो विषयः तदाश्रयताबलेनेत्यर्थः ।
अथवा वक्ष्यमाणरीत्या अधिष्ठानावरणस्य विक्षेप-
हेतुत्वम्, एवं चोभयमपि हेतुरिति तदुपादानम् ।
प्रत्यक्स्वरूपं = प्रत्यगात्मनोऽज्ञानादिसाधकचैत-
न्यौशमपिधाय = अनाच्छाद्य, प्रत्यञ्चं पराग्वि-
वर्तैः = जीवत्वादिविवर्तैः विक्षिप्य तिष्ठतीति
सम्बन्धः ।

अज्ञानं हि स्वाश्रयावभास्यं 'न जानामि'
इति तदनुभवात् अवभासकं च प्रकाशमानमेवेति
तदाश्रयचैतन्यमनावृत्तम् । एवं चाज्ञानं तदाश्र-
यत्वादेव तदाच्छादकं न भवतीत्यभिप्रेत्यैवमुक्तं,
तथा चाज्ञानादिभानमविरुद्धम् । 'चैतन्यं नास्ति'
इति व्यवहारादर्शनेन तद्योग्यतारूपमावरणं नास्ती-
तिभावः ।

प्रत्यक्त्वेति । इस श्लोकमें विषयपद विवक्षित नहीं है । अतः चैतन्यमात्र जो विषय है, उसकी आश्र-यताके बलसे, यह अर्थ है । अथवा वक्ष्यमाण (आगे कही जाने वाली) रीतिसे अधिष्ठानका आवरण, विक्षे-पका कारण है, एवं च विषय और आश्रयदोनों ही विक्षेपके हेतु हैं, अतः श्लोकमें 'विषय' पदका भी ग्रहण किया है । प्रत्यक्स्वरूप, यानी प्रत्यगात्माका जो अज्ञानादि-साधक चैतन्यभाग है, उसका आच्छादन न करके, जीवत्वादि अनात्मविवर्तोंके द्वारा प्रत्यक् स्वरूपका विप-रीत भान कराता हुआ अज्ञान रहता है, यह अन्वय है ।

'मैं नहीं जानता हूँ' इसप्रकारके अज्ञानविषयक अनुभवसे 'अज्ञान, अपने आश्रय चेतनसे प्रकाशित होता है' यह सिद्ध होता है । और अवभासक प्रकाशमान ही होता है, अतः अज्ञानका आश्रय चैतन्य आवृत्त नहीं है, अन्यथा अज्ञानका भानही नहीं होना चाहिये । इस-लिये अज्ञान चेतनमें रहनेके कारण चैतन्यका आच्छा-दक नहीं है, इस अभिप्रायको हृदयमें रखकर 'अपि-धाय' ऐसा श्लोकमें कहा है । तथाच अज्ञान, अन्तः-करण आदिका चैतन्यद्वारा भान होनेमें कुछ भी विरोध नहीं है । 'चैतन्य नहीं है' इस प्रकारके व्यवहारका दर्शन न होनेसे 'चैतन्यं नास्ति' इसाकारक व्यवहार की योग्यतारूप आवरण नहीं है, यह भाव है ।

तर्हि अज्ञातं ब्रह्म ततोऽन्यत् स्यादिति

नेत्याह—अद्वयमिति । तर्हि कथं प्रकाशमानस्या-

प्रकाशमानत्वमित्याशङ्क्य उक्तं तावत्प्रकाश-

मानत्वे प्रमाणम् । एवं जीवेश्वरत्वाद्यध्यासाधि-

ष्ठानतया तत्राप्रकाशमानत्वं च वाच्यम् । विशेष-

षावरणं विनाऽध्यासायोगादित्यभिप्रेत्य प्रत्यञ्च

जीवत्वादिभिर्विचिपतीत्युक्तम् ।

यद्यपि चैतन्यमात्रमेव ब्रह्म तथापि तदावृत्त-

मनुभूयते, तच्च वक्ष्यमाणविधया अविरुद्धमिति ।

माऽस्तु तर्हि जीवत्वादेस्तत्राध्यासस्तत्राह-अशेषेति ।

तथा च निर्विशेषे जीवत्वाद्यवभासोऽध्यासंविना न

सम्भवतीति तस्य तत्रारोपो वक्तव्य इत्यर्थः ॥२१॥

ननु—यथा सांख्यमते प्रकृतिः पुरुषाश्रय-

त्वविषयत्वमन्तरेण जगदुत्पादयति, एवमज्ञान-

मप्यस्तु, किं तस्य प्रत्यगाश्रयत्वविषयत्वकल्प-

नया ? न चाध्यस्तमज्ञानं तत्कार्यं चेति ततोऽस्य

वैलक्षण्यमिति वाच्यम् । तदध्यासस्यैवाद्याप्यसि-

शंका—तव अज्ञात (आवृत्त) ब्रह्म अनावृत्त प्रत्यक् चेतनसे अन्य होगा ?

समाधान—ना, अद्वयम् । अर्थात् ब्रह्म और प्रत्यक् चेतनका वस्तुतः भेद नहीं है ।

शंका—ज्ञात (आत्मा) और अज्ञात (ब्रह्म) को एक मानने पर, प्रकाशमान चेतन अप्रकाशमान ब्रह्मरूप कैसे होगा ?

समाधान—‘चैतन्यभाग प्रकाशमान है’ इसमें ‘चैतन्यं नास्ति’ इत्याकारक व्यवहारके न होनेसे अर्थापत्ति प्रमाण कह आये हैं । तथा च जीवत्व ईश्वरत्वआदि अध्यासका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्ममें अप्रकाशमानता भी कहनी ही चाहिये । क्योंकि—अध्यासका अधिष्ठान अप्रकाशमान ही होता है । ‘विशेष-आवरणके विना अध्यास बन ही नहीं सकता है’ इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ‘प्रत्यञ्च जीवत्वादिभिर्विचिपति’ ऐसा मूलमें कहा है ।

यद्यपि चैतन्यमात्र ही ब्रह्म है, तथापि वह आवृत्त अनुभूत होता है, और ब्रह्मका आवृत्तपना वक्ष्यमाण प्रकारसे विरुद्ध नहीं है ।

शंका—जब ब्रह्म अद्वय है, व चैतन्यरूपसे प्रकाशमान है, तब उस ब्रह्ममें जीवत्वादिकोंका अध्यास मत होवो ?

समाधान—अशेषेति । वस्तुतः ब्रह्म जीवत्वादि सकल विशेषोंसे रहित है । परन्तु निर्विशेष-ब्रह्ममें, भ्रान्तिदशामें होनेवाली जीवत्वादिकोंकी प्रतीति अध्यास के विना सम्भव नहीं हो सकती है, इसलिये निर्विशेष ब्रह्ममें जीवत्वादिकोंका अध्यास कहना ही चाहिये, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

शंका—जैसे सांख्यमतमें प्रकृति, पुरुषकी आश्रयता एवं विषयताके विना ही जगत् को उत्पन्न करती है, तैसे अज्ञान भी चेतनकी आश्रयता एवं विषयताके विना ही जगत् को उत्पन्न करे, अज्ञानमें प्रत्यगात्माकी आश्रयता एवं विषयताकी कल्पना क्यों की जाती है ! ‘अज्ञान और अज्ञानकार्य द्वैत प्रपञ्च अध्यस्त है, अतः प्रकृतिसे अज्ञान विलक्षण है,’ ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—अबतक अज्ञानादिके अध्यासकी ही सिद्धि नहीं हुई है ?

द्वेरित्याशङ्क्य आत्मनि प्रपञ्चस्याध्यासं दर्शयि-
ष्यंस्तदर्थं प्रथमं तस्य तत्र वस्तुतोऽसम्भवं तदर्थं
च प्रमाणसिद्धमात्मस्वरूपं दर्शयति—

समाधान—आत्मामें प्रपञ्चके अध्यासको दिखानेके
लिये, प्रथम 'वस्तुतः आत्मामें अध्यासका असम्भव है' इस
सिद्धान्तको दिखाते हैं, और प्रमाणसिद्ध आत्मस्वरूपका
भी वर्णन करते हैं—

प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि हि दर्शयन्ति, निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां प्रतीचः ।

निर्दुःखनित्यसुखविग्रहभूम्नि नास्मिन्, सम्भाव्यते दृशि पुरोदितमल्परूपम् ॥२२॥

सुषुप्ति-कालीन प्रत्यक्षअनुभव, परमप्रेमास्पदत्वादि लिङ्गरूप अनुमान, तथा 'योवै भूमा तत्सुखं'
इत्यादि शास्त्रवचनरूप शब्दप्रमाण, प्रत्यगात्माको दुःखरहित अखण्डानन्दरूपसे बोधन करते हैं ।
अतः दुःखरहित अखण्डानन्दरूप, त्रिविधपरिच्छेदरहित भूमाज्ञानरूप प्रत्यगात्मामें अनृत्तजड़
आदि वचनसे प्रथम कहा हुआ—जीवजगदादि—अल्परूपका वस्तुतः संभव नहीं हो सकता है ॥२२॥

प्रत्यक्षेति । एतानि वक्ष्यमाणानि द्रष्टव्यानि ।

निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतामिति । प्रतीचः । भूम्न-

चैतन्यस्योपलक्षणम्, अन्यथाऽनुवादे तत्कीर्तना-

योगात् । ततः किं तत्राह—निर्दुःखादिस्वरूपेऽस्मिन्

चैतन्याद्वयात्मनि अनृत्तजडेत्यादिनोक्तमल्पं रूपं

न सम्भाव्यते, वस्तुतः कथमपि न सम्भवतीत्यर्थः ।

अहङ्कारप्रमुखो जड़प्रपञ्चो न तावदात्मनो-

ज्यत्र सिध्यति, आत्मन एव तदुपादानताया

वक्ष्यमाणत्वात् । कार्यस्योपादानादन्यत्रावस्थित्य-

नुपपत्तेः, तत्सत्तास्फूर्त्ययोगाच्च न ह्यात्मातिरिक्त-

प्रत्यक्षेति । 'ये प्रत्यक्षादि प्रमाण आगे कहने हैं'
ऐसा समझना चाहिये । निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां
प्रतीचः, इस वाक्यके साथ 'भूम्नः एवं चैतन्यस्य' इन
दोनों पदोंका उपलक्षण-न्यायसे सम्बन्ध है । यदि इन
दोनों पदोंका सम्बन्ध न किया जाय तो 'निर्दुःख
नित्यसुखविग्रहभूम्नि नाऽस्मिन् दृशि' इस अनुवाद
वाक्यमें 'भूम्निदृशि' इन दोनों पदोंका कथन संगत नहीं
हो सकता है ।

प्रश्न—पूर्वोक्त कथनसे क्या सिद्ध हुआ ?

उत्तर—निर्दुःखेति । दुःखादिरहित, चैतन्य,
अद्वैत आत्मामें, अनृत्त जड़ इत्यादिसे कहा हुआ—
जीवादि परिच्छिन्नरूपका वस्तुतः किसी भी प्रकारसे
सम्भव नहीं हो सकता है ।

अहंकार प्रभृति जड़प्रपञ्च, आत्मासे अन्यमें सिद्ध
नहीं हो सकता है, क्योंकि—आत्मामें ही प्रपञ्च की
'उपादन कारणता' आगे कहनी है । उपादान कारणसे
अन्यमें कार्यकी स्थिति नहीं बन सकती है, तथा कार्य
की सत्ता स्फूर्ति, भी नहीं हो सकती है । और आत्मासे
अतिरिक्त किसी पारमार्थिक वस्तुका सम्भव भी नहीं है ।

मपि किञ्चित्सम्भवति । नाप्यात्मनि सम्बन्धान्तरेण तस्य वृत्तिः सम्भवति, निरवयवेऽसङ्गे सम्बन्धान्तरासम्भवात् । तादात्म्यं च वास्तवं विरुद्धयोर्न सम्भवति । तद्विरुद्धरूपं चात्मनः प्रत्यक्षादिसिद्धमिति न कथमप्यात्मनि प्रपञ्चस्य वस्तुतः सम्भव इति भावः ॥२२॥

प्रतिज्ञातमर्थमुपपादयन् प्रथमं प्रत्यक्षेणात्मनो निर्दुःखनित्यसुखतां दर्शयति—

प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन्, सर्वप्रकारविषयप्रतिपत्तिशून्ये । सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसन्दधानः, सर्वोऽपि जन्तुरवगच्छति तस्य सौख्यम् ॥२३॥

सर्वप्रकारके विषय ज्ञानसे रहित, सुषुप्ति-कालीन प्राज्ञ-आत्माके विमल सुखका अच्छी प्रकार अनुभव कर जाग्रत होकर 'मैं सुषुप्तिमें सुखसे सोया था' इसप्रकारका अनुसंधान करता हुआ सभी प्राणी आत्माके सुख स्वरूपको जानता है ॥ २३ ॥

प्राज्ञ इति । यद्यपि सुखप्रत्यक्षमात्रमात्म-

स्वरूपसुखमेव विषयीकरोति, तथाऽप्यन्यथासि-

द्धिशङ्काशून्यतया निर्दुःखत्वादिसिद्ध्यर्थं च

सौषुप्तिकं प्रत्यक्षमुदाहृतम् । यस्मिन्नेकीभूतः

सुषुप्त्यवस्थायां जीव उपाधिकालुष्याभावात्प्र-

कृष्टमज्ञो भवति तस्मिन्प्राज्ञभेददशायामित्यर्थः ।

समनुभूय स्पष्टमनुभूयान्यथा सुषुप्त्यर्थं कस्यापि

प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

कल्पित तादात्म्यसम्बन्धको छोड़कर अन्यसम्बन्धसे प्रपञ्चकी स्थिति भी आत्मामें नहीं हो सकती है, क्योंकि निरवयव असंग आत्मामें अन्य सम्बन्धका सम्भव ही नहीं है । परस्परविरुद्ध प्रपञ्च और ब्रह्मका वास्तविक-तादात्म्य भी नहीं हो सकता । अनृत जड़ादिरूपप्रपञ्चसे आत्माका सत्यज्ञानादि स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध है, यह प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे सिद्ध है । इसलिये आत्मामें प्रपञ्चका वस्तुतः किसी प्रकारसे भी सम्भव नहीं हो सकता है, यह तात्पर्य है ॥ २२ ॥

प्रतिज्ञात अर्थका युक्तिसे प्रतिपादन करते हुए प्रथम प्रत्यक्षसे आत्माके दुःखरहित नित्यानन्दस्वरूपको दिखाते हैं—

प्राज्ञ इति । यद्यपि यावत् सुख प्रत्यक्ष, आत्म-स्वरूप सुखको ही विषय करता है, तथापि विषयजन्य-सुखप्रयुक्त अन्यथासिद्धिकी शंकासे रहित, दुःखरहित, निर्विषय शाश्वत सुखकी सिद्धिके लिए सुषुप्ति कालीन सुखके प्रत्यक्षका उदाहरण दिया है । सुषुप्ति-अवस्थामें बुद्ध्यादिउपाधिके दोषोंका अभाव होनेके कारण जीव, स्वस्वरूपभूत सुखके साथ अभिन्न होकर प्रकृष्ट ज्ञान-वाला होता है, उसप्राज्ञसे, अभिन्न अवस्थामें स्पष्ट आत्म-सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, अतएव उठकर 'मैं इस अवस्थामें सुखपूर्वक सोया था' यह आत्मसुखकी स्मृति भी सब जीवोंके अनुभव सिद्ध है । यदि सुषुप्तिमें सुखका अनुभव न होता हो तो, सुषुप्तिके लिए किसी की भी प्रवृत्ति न होनी चाहिये ।

ननु—तदपि सुखं जन्यमेव किं न स्या-

चुत्राह—सर्वप्रकारेति । स्मृतिरूपा अनुभवरूपा वा
या विषयप्रतिपत्तिः तच्छून्ये । सुषुप्तेः सर्ववि-
शेषज्ञानोपरमरूपत्वात् विषयज्ञानं विना सुखजन्मा-
सम्भवात् न तदात्मन्यन्यत्सुखमस्तीत्यर्थः ।

अत्र = देशे काले वा सुखमिति क्रियाविशेषणम् ।

अनुसन्दधानः = स्मरन्नर्थात्तदेव सुखमित्याशयः ।

तस्यानुसंधानात्स्वरूपचैतन्यस्य सौख्यं = निर्दुः-
खनित्यसुखात्मत्वम् ।

यद्यपि 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मृतिर्न
निर्दुःखत्वं न वा नित्यत्वं तस्य विषयीकरोतीति
तद्वलात्प्राज्ञसुखस्य निर्दुःखत्वादि न सिध्यति,
तथापि सुषुप्त्यवस्थायामनुभूयमानसुखवलात्नि-
र्दुःखताऽऽत्मनः सिध्यति, अत एवोत्थितस्य
'निर्दुःखमस्वाप्सम्' इति व्यवहारः, सुषुप्तिकालीन-
सुखसामर्थ्यादेव तस्य नित्यत्वमपि सिध्यतीति
प्राज्ञसुखप्रत्यक्षसामर्थ्यादात्मा निर्दुःखनित्यसु-
खमिति ॥२३॥

एवमनुमानेनाप्यात्मनः सुखात्मत्वसिद्धौ
तस्य निर्दुःखनित्यताऽपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य
“आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वात् वैषयिक-
सुखवत् यद्यन्तलक्षणवत्तदात्मकं यथा गवादि”
इत्यनुमानमाह—

शंका—सुषुप्ति कालका सुख भी जन्य व अनित्य
क्यों न हो ?

समाधान—सर्वप्रकारेति । प्राज्ञ अवस्थामें स्मृति-
रूप या अनुभव रूप जो विषय ज्ञान है, वह नहीं है । क्यों-
कि सर्व विशेष ज्ञानोंका अभावरूप सुषुप्ति है, विषय ज्ञानके
विना सुखकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सुषुप्ति-कालके
आत्मामें अजन्य (नित्य) सुखसे अन्य जन्य सुख नहीं
है, यह अर्थ है । अत्र यानी सुषुप्ति देशमें या कालमें ।
'सुखं' यह सुषुप्ति क्रियाका विशेषण है । यानी सुषुप्ति
कालमें जो सुख है, वह स्वाप क्रियासे अलग नहीं है ।
उस सुषुप्ति सुखका ही उठकर सब जीव स्मरण करता
है, यह आशय है; अतः सुषुप्ति सुखका अनुसंधान होनेके
कारण दुःखरहित नित्य सुखरूप स्वरूप चैतन्यको सभी
जानते हैं ।

यद्यपि 'मैं सुखपूर्वक सोया था' यह स्मृति, सुषुप्तिके
सुखमें दुःखरहितपनेको तथा नित्यपनेको विषय नहीं
करती है, अतः स्मृतिके बलसे प्राज्ञ सुखमें निर्दुःखत्वादि
सिद्ध नहीं हो सकते हैं । तथापि सुषुप्ति-अवस्थामें अनु-
भूयमान सुखके बलसे आत्मामें दुःखाभाव सिद्ध होता
है, इसीच्छिये सुषुप्तिसे उठा हुआ मनुष्य 'मैं दुःखसे
रहित होकर सोया था' ऐसा व्यवहार करता है । सुषुप्ति-
कालीन सुखके सामर्थ्यसे ही उस सुखमें नित्यपना भी
सिद्ध होता है, क्योंकि जन्य सुखकी सामग्री स्वापकालमें
नहीं है । इसप्रकार प्राज्ञरूप सुख-प्रत्यक्षके बलसे आत्मा
दुःखरहित नित्य सुखरूप सिद्ध होता है ॥ २३ ॥

इसप्रकार अनुमानसे भी आत्माकी सुखरूपता सिद्ध
होने पर, उस सुखमें निर्दुःखता व नित्यता भी सिद्ध
हो जाती है, ऐसा अभिप्राय हृदयमें रखकर “जो जो
पदार्थ, जिस जिसके लक्षणसे युक्त होता है, वह उस-
उस लक्षणवालेसे अभिन्न होता है । जैसे सास्नादि लक्षणसे
युक्त गवादि, सास्नादिवालेसे अभिन्न है, तद्वत् विषय-
जन्य सुख की तरह, सुखके लक्षणसे युक्त होनेके कारण
आत्मा भी सुखसे अभिन्न है ।” इस अनुमानको कहते हैं—

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्, पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव ।

तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञाः, तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखताऽस्य तस्मात् ॥२४॥

इस संसारमें स्त्री, पुत्र, धनादि जो कुछ वस्तु है, वह सब जिसके लिये है, जो स्वसत्तामात्रसे पारार्थ्य (अन्य निमित्तता) को छोड़कर रहता है, उस वस्तु को सुखके लक्षण जाननेवाले विद्वान् सुख कहते हैं, प्रत्यगात्मा इस प्रकारके सुख-लक्षणसे युक्त है, अतः आत्मा सुखसे अभिन्न है ॥२४॥

सर्वमिति । प्राचुर्याभिप्रायमेतत् । यदर्थ =

‘सर्व’ पद प्राचुर्य अभिप्रायसे है । ‘यदर्थ’ इस

यत्सम्बन्धितया प्रीतिविषयः न तु तद्धेतुरित्यर्थः,

पदका-‘जिसके सम्बन्धसे सर्व पदार्थ प्रीतिके विषय

आत्मसुखस्याजन्यत्वात् । इह = जगति, वस्तु

हैं’, यह अर्थ है, ‘सर्व जिसका कारण है’ यह अर्थ

यदस्ति किञ्चित्, एतदपि प्राचुर्याभिप्रायम् । पारा-

नहीं हैं, क्योंकि-आत्मसुख अजन्य-नित्य है । इस

र्थ्यम् = अन्यमयुक्तप्रीतिविषयत्वम्, यद् इष्य-

संसारमें जो कुछ वस्तु है, यह कथन भी प्राचुर्य-अभि-

माणमिति शेषः । निजसत्तया = स्वस्वरूपेण,

प्रायसे ही है । ‘पारार्थ्यम्’ पदका अर्थ ‘अन्यके लिये

तत् सुखमिति वर्णयन्तीतिसम्बन्धः । व्याप्तस्य

होनेवाली प्रीतिकी विषयता है । लक्ष्य सुख बोधक,

हेतोः पक्षधर्मतामाह-तत्प्रत्यगात्मनीति । समं वैषयिक-

‘यद्’ पदके साथ ‘इष्यमाण’ (अभिलाषाका विषय)

सुखतुल्यमस्तीति वाऽर्थः । निगमयति-सुखतेति ।

इतना शेष-पद जोड़ना चाहिये । ‘निजसत्तया’ यानी

तस्मादुक्तहेतोः । अत्र यदिष्यमाणं पारार्थ्यमुज्झति

स्वरूपसे । ‘सुख’ का ‘वर्णयन्ति’ के साथ अन्वय है ।

*जो अभिलष्यमाण है, वह सुख है, इतना लक्षण सुखसाधनमें भी घट जाता है, क्योंकि-सुखसाधन भी अभिलष्यमाण हैं, अतः सुखके प्रथम लक्षणकी अतिव्याप्ति सुखसाधनमें, होजाती है, उसके निवारणके लिये ‘पारार्थ्याभाव’ यह विशेषण प्रथमलक्षणमें दिया है, सुखसाधनमें पारार्थ्याभाव, न होनेके कारण अतिव्याप्ति नहीं है । केवल पारार्थ्याभाव ही सुखलक्षण कहनेसे दुःखादिमें अतिव्याप्ति हो जाती है । क्योंकि दुःखादिमें भी पारार्थ्याभाव है । अतः उस अतिव्याप्तिके निरासार्थ ‘अभिलष्यमाण’ यह विशेषण दल कहा, दुःखादि किसीसे इष्यमाण न होनेके कारण उसमें अतिव्याप्ति नहीं है ।

कहते हैं-तत्प्रत्यगात्मनीति । ‘समं’ पदका विषय

जन्य सुखके समान है, यह भी अर्थ है । उपसंहार करते

है-सुखतेति । तस्मात् यानी पूर्वोक्त हेतुसे, आत्मा सुख-

स्वरूप है, यह सिद्ध हुआ । जो अभिलष्यमाण है, एवं

पारार्थ्य (अन्यशेषत्व) रहित है, वह सुख है; तथा जो

स्वसत्तामात्रसे अभिलष्यमाण है, वह-सुख है, ऐसे यहां

सुखके दो लक्षण विवक्षित हैं । इन दो लक्षणोंके उप-

पादन करनेके लिए ‘सर्वम्’ इत्यादि कहा है । दुःखादिमें

तथा सुख साधनमें अतिव्याप्ति वारणके लिये प्रथम सुखके

लक्षणमें दोनों *दल दिये हैं । एवं द्वितीयलक्षणमें जो

निजसत्तया यदिष्यमाणं तद्वा सुखमिति लक्षणं
विवक्षितम् । एतदुपपादनाय सर्वमित्याद्युक्तम् ।
दुःखादौ सुखसाधने चातिव्याप्तिवारणाय दलद्वयम् ।

ननु-पुत्रादिवत्सुखमपि 'मम सुखं भूयात्'

इत्यात्मार्थमेव काम्यते, इति कथं पारार्थ्यमुज्झ-

तीति, तन्न, नहि पुत्रादिनेवात्मनःसुखेनापीष्टं

किञ्चिज्जायते, येन सुखं तदर्थं भवेत्, न च सुख-

मात्स्यसम्बन्धितयैवाभिलाषास्पदम्, आत्मसम्ब-

न्धित्वस्य दुःखादिसाधारणस्य सुखप्रीत्यप्रयोज-

कत्वात् । न चात्मसुखत्वं, तत्र प्रीतिनिमित्तमिति

वाच्यम् । लाघवेन सुखत्वमात्रस्यैव तथात्वात्

सुखं चैकमेवेति नातिप्रसङ्गः । न च कथं तर्हि

'मम सुखं भूयात्' इत्यभिलाष इति वाच्यम् ।

'मम प्रत्यक्षसुखं भूयात्' इति हि तथा काम्यते,

अभिलष्यमाण हो वह सुख है' इतनाही यदि लक्षण
करें तो सुखसाधनोंमें अतिव्याप्ति हो जावेगी, अतः
स्वसत्तामात्रसे यह विशेषण कहा, सुखसाधन निजसत्तया
अभिलष्यमाण नहीं हैं ।

शंका—जैसे 'मम पुत्रोभूयात्' यह काम्यमानपुत्र,
आत्माके लिये है, तद्वत् 'मम सुखं भूयात्' यह काम्य-
मान सुख भी आत्माके लिये ही है, अर्थात् सुख आत्माके
लिये अभिलषित है, तब सुख पारार्थ्य (अन्यके लिये)
नहीं है, यह कैसे कहा !

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, जैसे पुत्रादिसे
आत्मसुखरूप इष्ट उत्पन्न होता है, तद्वत् आत्मसुखसे
भी अन्य कुछ इष्ट उत्पन्न होता तो सुख भी आत्माके
लिये कहा जाता । 'आत्माका सम्बन्धी होनेसे ही सुख,
अभिलाषाका विषय है' यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि
आत्म-सम्बन्धिता दुःखादिओंमें भी है, अतः आत्म-
सम्बन्धिता सुख-स्नेहका प्रयोजक नहीं हो सकती है ।
प्रीतिका निमित्त (कारण) आत्मसुखत्व है, यह भी
नहीं कहना चाहिये, क्योंकि आत्मसुखत्वकी अपेक्षा
सुखमात्रको लघु होनेसे एकमात्र सुख ही प्रीतिका निमित्त
हो सकता है । सर्वत्र सुख एक ही है, अतः शत्रु-
सुखादिमें प्रीतिकी विषयता न होनेसे अतिप्रसङ्ग की
प्राप्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि—केवल सुख ही
सर्वत्र प्रीतिका विषय है ।

शंका—जब सर्वत्र सुख एकही है, तब 'ममसुखं
भूयात्' 'मेरा सुख हो' ऐसी अभिलाषा क्यों होती है !
अर्थात् जब तवादि व्यावर्त्य नहीं है, तब 'मम' यह
कहना व्यर्थ है !

समाधान—यद्यपि सुख-व्यक्तिको एक होनेसे, अन्य
कुछ व्यावर्त्य न होनेके कारण 'मम सुखं भूयात्' ऐसी
कामना नहीं हो सकती है तो भी 'मम प्रत्यक्षं सुखं
भूयात्' ऐसी इच्छा बन सकती है, अर्थात् 'मुझको

सुखव्यक्तेरेकत्वेन व्यावर्त्याभावात् । प्रत्यक्षं त्वज्ञा-

तब्रह्मसुखादिव्यवच्छेदकमिति 'तदेव मम' इति

विशिष्यते इति नोक्तदोषः । अहङ्कारशबलात्

ममताधिकरणात् केवलं सुखमन्यदिति मदीयत्व-

मपि प्रतीयमानमस्त्येव, परंतु तत्कामनाप्रयोजकं

न भवतीति भावः ॥ २४ ॥

किं च 'आत्मा सुखम्, अनौपाधिकप्रेम-

गोचरत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथादुःखादि' इत्यनु-

मानान्तरमाह-

प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः, स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः ।

प्रेयःश्रुतेरपि ततः सुखताऽनुमानं, नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निहनुवीत ॥ २५ ॥

सुखभिन्न-घटादिपदार्थोंमें किसीका भी निरपेक्ष-प्रेम देखनेमें नहीं आता है, और प्रत्यक् आत्मामें तो बुद्धातिबुद्ध जन्तु-कृमि (कीड़े) का भी स्वाभाविक सर्वानुभवसिद्ध-निरपेक्ष-प्रेम देखनेमें आता है । अत एव परमप्रेमास्पदत्वरूपहेतुसे तथा 'तदेतत्प्रेयः' इत्यादि श्रुतिसे भी ज्ञानरूप आत्मामें सुखरूपताके साधक अनुमानका नैयायिक आदि विद्वान् भी निराकरण नहीं कर सकते हैं ॥ २५ ॥

प्रेमेति । अनुपाधिरिति । अन्याप्रयुक्त इत्यर्थः ।

असुखात्मनि = सुखव्यतिरिक्ते, प्रत्यगात्मनि =

निष्कृष्टाहङ्कारतत्माक्षिचैतन्ये, कृमेरपीति = बहुल-

दुःखप्राणिनामप्यात्मनि प्रेमा दृश्यते, किमु वक्तव्यं

प्रत्यक्ष सुख हो' इस वाक्यमें 'मम' का प्रत्यक्षके साथ अन्वय है, सुखके साथ अन्वय नहीं है, क्योंकि-ज्ञापमान-सुख ही पुरुषार्थ माना जाता है । 'प्रत्यक्ष' विशेषण, अज्ञात-ब्रह्मसुखादिका व्यावर्तक है, अतः 'तदेव' 'सुखका प्रत्यक्षही' 'मम' 'मदीयत्व' का विशेष्य माना जाता है, इसलिये पूर्वोक्त शंकामें कहा हुआ दोष प्राप्त नहीं हो सकता । ममत्वका विषय, अहंकार-विशिष्ट, आत्मा (सुख) से केवल विशुद्ध सुख अन्य है, अतः सुखमें मदीयत्व (मेरापना) की प्रतीति रहती भी है, परन्तु वह 'मदीयत्व' कामनाका प्रयोजक नहीं है, कामना (अभिलाषा) का प्रयोजक तो केवल सुख ही है, यह भाव है ॥ २४ ॥

अनौपाधिक-(उपाधि सम्बन्धरहित-निरपेक्ष) प्रेमका विषय होनेसे आत्मा सुखरूप है, जो दुःखादि, अनौपाधिक-प्रेमका विषय नहीं है, वह सुखरूप भी नहीं है, इस रीतिसे आत्माके सुखरूपताका साधक अन्य अनुमान भी कहते हैं—

अनुपाधिका अन्यसे अप्रयुक्त-निरपेक्ष अर्थ है ।

असुखात्माका सुखभिन्नघटादि अर्थ है । प्रत्यगात्माका अहंकार सम्बन्धरहित, अहंकारका साक्षी, चैतन्य अर्थ है । जब विशेष दुःखवाले तुच्छ कृमि आदि प्राणियोंका भी आत्मामें प्रेम देखनेमें आता है, तब उत्तम मनुष्यादि प्राणियोंका प्रेम आत्मामें हो सकता है, इसमें तो कहना

विशिष्टात्मनामिति श्रुतितम् । कृमीणामपि स्व-
दुःखपरिहाराय धावनादि दर्शनेनास्त्येव स्वदुःखे
द्वेषः, स च स्वात्मनि तेषां प्रेमाभावे नोपपद्यते,
उदासीननरदुःखद्वेषादर्शनादिति भावः ।

ननु कृमीणामन्येषां वाऽऽत्मनि कथं स
भवेत् सिद्धे तदयोगात् इत्याशङ्क्य सर्वानुभव-
सिद्धः कथं स निराकार्य इत्याह—नित्यसिद्ध इति ।
सदानुभवसिद्ध इत्यर्थः । दृश्यते हि धनपुत्रादौ
सिद्धेऽपि पित्रादेस्तत्साध्योपकारमप्रतिसन्दधतो-
ऽपि प्रेमा, एवमात्मन्यपि निरतिशयसुखरूपे स न
विरुध्यते इत्यर्थः ।

किं च 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्ताद्' (वृ०
१।४।८) इति श्रुतितोऽप्यात्मनि नित्यसिद्धे
स सिद्ध इत्याह—प्रेयःश्रुतेरिति । तत = इति
व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मत्वादित्यर्थः । नैयायिकोऽपीति ।
अपि शब्दान्मीमांसकादिरपि । नैयायिको ह्यनु-
मानस्य द्वे अङ्गे व्याप्तिः पक्षधर्मता चेत्याहेति
स्वाभिप्राययुक्तं आत्मनः सुखतानुमानं न
निहनुवीत = न निराकुर्यात् । किमु वक्तव्यं

ही क्या ? यह भाव यहां सूचित होता है । कृमियों
की भी अपने दुःखके परिहारेके लिये भागना आदि
क्रिया देखनेमें आती है, अतः कृमियोंको भी स्वदुःखमें
द्वेष है, वह द्वेष उनको स्वात्ममें प्रेम विना नहीं हो
सकता है, क्योंकि उदासीन अन्य मनुष्यके दुःखमें
किसीका भी द्वेष देखनेमें नहीं आता है, यह भाव है ।

शंका—कृमियोंका तथा अन्योका आत्मामें प्रेम कैसे
हो सकता है ? क्योंकि—सिद्ध वस्तुमें प्रेम नहीं होता है,
साध्यवस्तुमें तो प्रेम हो सकता है, परन्तु आत्मा तो
साध्य नहीं है, सिद्ध है ?

समाधान—आत्मामें प्रेम सदा अनुभव सिद्ध है, अनु-
भवसिद्धका निषेध नहीं हो सकता । धन, पुत्र आदि सिद्ध
वस्तुओंमें भी, पिता आदिकोंका धनादिसाध्य उपकारका
स्मरण न करनेवालोंका भी, प्रेम देखनेमें आता है, इसप्रकार
निरतिशय (न्यूनाधिकभावरहित) सुखरूप सिद्ध आत्मामें
भी स्वाभाविक प्रेमका होनेमें कुछ भी विरोध नहीं है ।

'सो यह आत्मा पुत्रसे प्रिय है, वित्तसे भी प्रिय
है' इत्यादि श्रुतिसे भी नित्य-सिद्ध आत्मामें प्रेम सिद्ध
है । यह बात प्रेयःश्रुतेरित्यादि मूलसे कहते हैं ।
ततः यानी पूर्वोक्तरीतिसे व्याप्तिवाले परमप्रेमास्पदत्वरूप
हेतुको आत्मारूप पक्षमें होनेसे । नैयायिकोऽपीति ।
अपिशब्दसे मीमांसक आदि भी । अनुमानके व्याप्ति और
पक्षधर्मता ये दो अंग हैं, यह नैयायिक कहता है, अतः
नैयायिक अपनं अभिमत अङ्गसे युक्त, आत्माके सुख-
रूपताका साधक, अनुमानका निराकरण नहीं कर
सकता है । तब श्रुतिको प्रधानरूपसे माननेवाला मीमां-
सक आदि विद्वान्, श्रुतिकी सम्प्रतिवाले अनुमानका
निराकरण नहीं कर सकता है, इसमें तो कहना ही
क्या है ? यह भाव है ।

शंका—'मैं दुःखी हूँ' इसप्रकारके प्रत्यक्षसे आत्मा

श्रुतिप्रधानो मीमांसकादिरिति भावः । न चात्मनि

दुःखित्वग्राहकप्रत्यक्षबाधः दुःखित्वादेरुपाधि-

धर्मतया दृगात्मनि सुखतानुमानस्य ततो भिन्न-

विषयत्वादित्याह—दृगात्मनीति ॥ २५ ॥

‘प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि’ इति श्लोकोक्तं प्रत्य-
क्षमनुमानं च दर्शितम्, इदानीं वचनशब्दितां
श्रुतिमपि तत्राह—

आनन्दविग्रहमपास्तसमस्तदुःखं,

आत्मानमध्ययनविध्यनुसारिणस्तं, प्रत्यक्षतः श्रुतिशिरःसु समामनन्ति ॥ २६ ॥

साङ्गवेदके अध्ययन करनेवाले अधिकारीगण, उपनिषद्‌में आध्यात्मिकादि समस्त दुःख-
रहित, आनन्दस्वरूप, अपास्तत्वादि स्वस्वरूपके स्वभावसे सजातीयादिसर्वभेदशून्य, आत्माको
महावाक्यजन्यप्रत्यक्षासे स्पष्ट जानते हैं ॥ २६ ॥

आनन्दविग्रहमिति । आनन्दस्वरूपमित्यर्थः ।

अपास्तसमस्तदुःखमिति तस्य प्रेक्षावन्मुमुक्षुषा-
देयत्वं द्योतितम् । ननु सद्वितीये जीवे ‘नान्ये
सुखमस्ति’ (छां० ७ । २३ । १) इति
सुखनिषेधात्कथं तस्यानन्दरूपत्वमिति तत्राह—
वस्तुस्वभावेति । यद्यपि जीवस्वरूपं सप्रपञ्चं प्रती-
यते, तथापि ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति’
(छां० ७ । २४ । १) इत्यादिश्रुतिसिद्धमद्वयं
ब्रह्मैव तस्य वास्तवं स्वरूपमिति नासावन्वयः,
तथा च न सुखनिषेधश्रुतेरयं विषय इति भावः ।

की सुखरूपताके साधक अनुमानका बाध होगा ?

सामाधान—बाध नहीं हो सकता, क्योंकि-
दुःखित्वाआदि बुद्ध्यादि उपाधिका धर्म हैं, आत्मो-
वस्तुतः दुःखित्वा आदि नहीं हैं, आत्मामें दुःखित्वा-
की भ्रान्तिसे प्रतीति होती है, अतः ज्ञानरूप अत्मानमें
सुखरूपताका अनुमान, दुःखवैयर्थ्यक प्रत्यक्षसे भिन्न-
विषयवाला है, यह ‘दृगात्मनि’ इत्यादिसे कहते हैं ॥ २५ ॥

‘प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि’ इत्यादि श्लोकमें कहा हुआ
प्रत्यक्ष और अनुमान दिखाया, अब ‘वचन’ शब्दसे
कही हुई श्रुति प्रमाण भी कहते हैं—

वस्तुस्वभावपरिवर्जितसर्वभेदम् ।

आनन्दविग्रह यानी ‘आनन्द स्वरूप’ ‘समस्त दुःख-
रहित’ इस कहनेसे ‘यह आत्मा बुद्धिमान मुमुक्षुषे
उपादेय है’ यह सूचन किया ।

शंका—द्वैतप्रपञ्चवाले परिच्छिन्न जीवमें ‘अल्प
सुख नहीं है’ इस श्रुतिसे सुखका निषेध किया है, अतः
जीव आनन्दस्वरूप कैसे हो सकता है ?

समाधान—वस्तुस्वभावेति । यद्यपि अज्ञान-
वस्थामें जीवकास्वरूप प्रपञ्चयुक्त प्रतीत होता है, तथापि
‘जहां अन्य अन्यको देखता नहीं है, अन्य अन्यको
सुनता नहीं है’ इत्यादि-श्रुतिसे सिद्ध, अद्वैत, ब्रह्म ही
जीवका वास्तविक स्वरूप है, इसलिये परमार्थतः जीव
का स्वरूप अल्प नहीं है, अतः सुखनिषेधश्रुतिका
यह जीव विषय नहीं है, यह भाव है ।

ननु-स्वर्गकामादिराग्यात्सुखवत्त्वमेवात्मनो
 गम्यते न सुखरूपत्वमिति तत्राह-अध्ययनेति ।
 अध्ययनविधिर्हि स्वाध्यायशब्दोपस्थितकृत्स्नस्व-
 शास्त्राया अध्ययनं विद्यते, ननु कर्मकाण्डमात्रस्य ।
 एवं चाश्रोतोपनिषत्ताः साधनवतुष्टयसम्पन्नाः
 तद्गतानि 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (क०
 २.५.११) 'योऽगनायापिपासे शोकं मोहं जरां
 मृत्युपत्येति' (वृ० ३.५.१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'
 (वृ० ३.९.२८) 'एषोऽस्य परम आनन्दः' (वृ०
 ४.३.ब्रा०) 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७.२.३१)
 इत्यादीनि प्रत्यक्षवाक्यानि आनन्दात्मप्रतिपाद-
 कानि आप्नन्ति = पठन्ति । पठ्यमानवेदान्त-
 वाक्यैरान्निर्दुःखनित्यसुखविग्रहं दृग्वर्णं भूमान-
 मात्मानमवगच्छन्तीत्यर्थः ।

अथवा-‘वेदोपरा वेदान्ताः’ इति मतेन तेषा-
 मर्थशून्यत्वात्तत आनन्दाद्यसिद्धिमाशङ्क्य अध्य-
 यनविधेर्दृष्टार्थत्वात्कर्मवाक्यवत्तेषामप्यर्थवत्त्वं दु-
 रपहवमित्याह-अध्ययनेति । यः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां
 सिद्धस्तमात्मानमानन्दविग्रहमिति सम्बन्धः । एत-
 दुक्तं भवति, उक्तं तावदनुतजडविरोधीत्यत्रात्मा
 अडाहंकारविलक्षणश्चिद्रूप इति ।

शंका-‘स्वर्गकाम’ इत्यादि वाक्यसे आत्मा सुखका
 आश्रय प्रतीत होता है, अत आत्मा सुखरूप नहीं हो
 सकता है ।

समाधान-अध्ययनेति । ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ यह
 वेदाध्ययनविधि, केवल कर्मकाण्डके अध्ययनका विधान
 नहीं करती है, किन्तु स्वाध्यायशब्दसे उपस्थित समग्र स्व-
 शास्त्राके अध्ययनका विधान करती है, एवंच गुरुद्वारा
 जिन्होंने उपनिषदोंका अध्ययन किया है, ऐसे विवे-
 कादि साधन वतुष्टयसम्पन्न अधिहारीगण, उपनिषदोंके
 ‘आत्मा शरीरादिके दुःखसे छिप्त नहीं होता है, किन्तु
 सत्र अध्यासे असंस्पृष्ट है’ ‘याज्ञवल्क्य कइते हैं-हे
 कइल ! जो खाने पीनेकी इच्छा, शोक, मोह, जरा,
 मृत्युसे रहित है वह आत्मा है’ ‘ब्रह्म विज्ञान आनन्द
 स्वरूप है’ ‘जीवका यही परम आनन्द है’ जो भूमा
 (व्यापक) है, वह सुख स्वरूप है’ इत्यादि आनन्द-
 स्वरूपके प्रतिपादक प्रत्यक्षवाक्य, पढ़ते हैं, और पढ़े
 हुए वेदान्तवाक्योंसे दुःखरहित, नित्यसुखरूप ज्ञान-
 रूप व्यापक आत्माका अनुभव करते हैं ।

शंका-अथवा ‘ऊपर भूमिके समान वेदके निः-
 सार भागका नाम वेदान्त है’ एवं च इस मतसे वेदा-
 न्तोंको अर्थ शून्य होनेके कारण, उनसे आत्माके
 आनन्दादि स्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान-समस्त वेदके अध्ययनकी विधिका
 प्रयोजन साक्षात् प्रत्यक्ष होनेके कारण, कर्मकाण्डके
 वाक्योंकी तरह वेदान्तके वाक्योंकी भी सार्थकता-सप्रयो-
 जनताको कोई हटा नहीं सकता है ।

जो प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे सिद्ध है, उस आनन्द-
 स्वरूप आत्माको अधिकारीलोग उपनिषदोंमें ‘आम-
 नन्ति’ मनन करते हैं यह अन्वय है । यहां यह
 आर्थिक अर्थ है-‘अनुतजडविरोधि’ इत्यादि श्लोकमें
 जड-अहंकारसे विलक्षण, ज्ञानरूप आत्मा है, यह कह
 आये हैं इति ।

ननु—सत्यमुक्तं तदेवानुपपन्नं ज्ञानस्यानि-
 त्यत्वादिति चेन्न, ज्ञानपदवाच्यवृत्तेरनित्यत्वेऽपि
 तदाश्रयसात्त्विकैतन्यस्य तदभावात् । तथाहि —
 अस्ति तावदेवदत्तादेः सुखदुःखादिसाक्षात्कारः,
 सच घटादिसाक्षात्कार इव चक्षुरादिना केनचि-
 त्करणेन न साध्यते, तत्र प्रमाणाभावात् । न च
 'सुखाद्युपलब्धिः सकरणिका क्रियात्वात्' इति
 तत्कारणं मनः सिध्यतीति वाच्यम् । तत्क्रिया-
 त्वस्यासिद्धेः । न च साक्षात्कारत्वात्तत्सिद्धिः,
 तस्य नित्यत्वेऽप्युपपत्तेः । किं च सुखाद्युत्पत्ति-
 समयभाविनस्तज्ज्ञानस्य तदा विषयासक्तमनोज-
 न्यत्वमनुपपन्नम् । न च द्वितीयक्षण एव सुखादि-
 ज्ञानमिति वाच्यम् । प्रमाणाभावात्, प्रथमक्षणेऽ-
 ज्ञातसुखसत्त्वे प्रमाणप्रयोजनयोरभावाच्च । द्विती-

शंका—'आत्माचिद्रूप है' यह आपने ठीक कहा,
 परन्तु ज्ञानको अनित्य होनेसे 'ज्ञानस्वरूपआत्मा है' यह
 युक्तिसे सिद्ध नहीं होसकता है ।

समाधान—ज्ञानपदकी वाच्य अन्तःकरणकी वृत्ति
 को अनित्य होनेपर भी वृत्तिका आश्रय, ज्ञानपदका
 लक्ष्य, सक्षी चैतन्यरूपज्ञान अनित्य नहीं होसकता है ।
 इसविषयको स्पष्ट करते हैं—देवदत्त आदिको जो सुख-
 दुःखादिका साक्षात्कार होता है, वह साक्षात्कार जैसे
 घटादिका साक्षात्कार चक्षुरादिकरणसे उत्पन्न होता है,
 तद्वत् प्रमाणका अभाव होनेके कारण किसी भी करणसे
 उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका—सुखादिकी उपलब्धि, किसी करणसे
 साध्य है, क्रिया होनेसे । इस अनुमानसे सुखादिकी उप-
 लब्धिका कारण मन सिद्ध होता है ?

समाधान—सुखादिकी उपलब्धिमें 'क्रियात्व'रूप
 हेतु ही असिद्ध है, अर्थात् सुखादि—उपलब्धि क्रिया
 नहीं है ।

शंका—सुखादिकी उपलब्धि, साक्षात्कारस्वरूप
 हेतुसे क्रिया होसकती है, अतः अनुमानसे उपलब्धिमें
 क्रियात्वकी सिद्धि होजायगी ?

समाधान—उपलब्धिको नित्य, क्रियात्वरहित होने
 पर भी उसमें साक्षात्कारत्व रह सकता है, अर्थात् साक्षा-
 त्कारत्व हेतु उपलब्धिमें क्रियात्वका साधक नहीं है,
 प्रत्युत क्रियात्वाभावसे व्याप्त नित्यत्वका साधक है । क्रिया-
 नियमसे अनित्य हुवा करती है । और सुखादिकी
 उत्पत्तिके समयमें प्रकट होनेवाला सुखादिका ज्ञान,
 मनसे जन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उससमय मन
 विषयोंमें आसक्त हो रहा है ।

शंका—प्रथमक्षणमें मनसे सुखादिकी उत्पत्ति हो,
 और द्वितीयक्षणमें सुखादिका ज्ञान उत्पन्न हो ।

यत्तरोऽपि सुखाद्युत्पादकमनःसंयोगस्यान्यथा-

सिद्धतया ततस्तज्ज्ञानासम्भवाच्च । न वा विष-

यासमवायिकारणस्य ज्ञानासमवायिकारणत्वं क्व-

चिद् दृष्टम् । संयोगान्तरकल्पने चासमवायिकारण-

नाशेन नष्टसुखादेरनुभवसम्भवाच्च ।

कथं तर्हि “सुखज्ञानमुत्पन्नं विनष्टं” इत्य-

नुभव इति चेत्, न तावत्सुखादिस्थितिसमये

तज्ज्ञानस्योत्पत्तिविनाशानुभवोऽस्ति, येन ज्ञाने

पृथगुत्पत्त्यादि सिध्येत् । सुखाद्युत्पत्त्यादिदशायां

तदनुभवस्य तदुत्पत्त्यादिविषयतयाऽन्यथासिद्ध-

त्वेन तदसाधकत्वात्, तस्मात्सुखाद्युत्पत्तितत्तदनु-

भवस्य दुःखादिसमयेऽपि स्थितेस्तदुत्पादककार-

णानिरूपणात्सुखादिविशिष्टतदुत्पत्त्यादेरन्यथासि-

द्धत्वास्त्येव सुखानुभवोत्पत्त्यादिः । एवं

समाधान-‘द्वितीयक्षणमें सुखादिका ज्ञान उत्पन्न होता है,’ ऐसा माननेमें कुछ प्रमाण नहीं है; और प्रथमक्षणमें अज्ञात-सुखादिकी सत्ता माननेमें प्रमाण एवं प्रयोजन भी नहीं है । और सुखादि उत्पादक मनके संयोगको (सुखादिकी उत्पत्ति करके) अन्यथासिद्ध होनेके कारण द्वितीयक्षणमें भी उस संयोगसे सुखादिके ज्ञानकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं हो सकता है । ‘जो विषयका असमवायिकारण है, वही ज्ञानका भी असमवायिकारण है’ ऐसा कहीं भी देखनेमें नहीं आया है । (प्रकृतमें विषय सुखादि है, और असमवायिकारण मनका संयोग है) सुखके असमवायिकारणसंयोगसे अन्य, ज्ञानके असमवायिकारण संयोगकी कल्पना करनेपर असमवायिकारणके नाश द्वारा नष्ट हुये सुखादिके प्रत्यक्ष अनुभवका असम्भव हो जायगा ।

शंका-—सुख ज्ञानको नित्य माननेपर ‘सुखज्ञान उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ’ यह अनुभव कैसे संगत होगा ?

समाधान-सुखादिकी स्थितिसमयमें सुखादिके ज्ञान की उत्पत्ति एवं विनाशका अनुभव नहीं है, जिससे सुखादि ज्ञानमें सुखादिकी उत्पत्ति आदिसे पृथक् उत्पत्ति आदि सिद्ध हो । सुखादिकी उत्पत्ति व विनाश दशमें जो सुखादिके ज्ञानकी उत्पत्ति एवं विनाशका अनुभव है, वह सुखादिकी उत्पत्ति आदि विषयक होने के कारण अन्यथा सिद्ध है, अतः वह अनुभव ज्ञानकी उत्पत्ति एवं विनाशका साधक नहीं हो सकता है । सुखादिसे उपलक्षित-सुखादिका अनुभव, दुःखादिके समयमें भी स्थित है, अतः सुखादि ज्ञानके उत्पादक करणका निरूपण न होनेसे तथा सुखादिविशिष्टज्ञान की उत्पत्ति आदिको सुखादिकी उत्पत्ति आदि करके अन्यथासिद्ध होनेसे सुखादिके अनुभवकी उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती है । इसीप्रकार ‘देवदत्तज्ञान’ ‘यज्ञदत्तज्ञान’ आदि ज्ञानके भेदका अनुभव भी देवद-

तद्भेदानुभवस्यापीत्यबाधितलाघवात्सुखदुःखा-
दिविषयानुभव एक एव, स एव पुरुषान्तरस्यापि
सुखादिसाधक इति जगन्मात्रसाधकं चैतन्यमेतत्,
तस्यैव घटादेरपि प्रकाशकत्वात्, स चात्मैव
श्रुतिसिद्धस्तदभेदस्य बाधकाभावादिति चिद्रूप
एवात्मा ।

एवमुक्तानुमानेन तस्यानन्दत्वसिद्धावान-
न्दस्य दुःखविरोधित्वेन निर्दुःखत्वमात्मनोऽनित्य-
त्वायोगेन नित्यत्वं च सिद्धमिति निर्दुःखनित्य-
चित्सुखविग्रह आत्मा । एवं सर्वस्य प्रपञ्चस्य
दृश्यतया वक्ष्यमाणन्यायाच्चानिर्वचनीयत्वसिद्धौ
सजातीयदिभेदशून्योऽगोत्युक्तात्मसिद्धिः । एतच्च
वेदान्तवेद्य समस्तस्वरूपलक्षणतयोक्तम् । तत्र
कथं जड़प्रपञ्चस्य वस्तुतः सम्भव इति । कथं
तर्हि एतदनुभवः ? अभ्यासात् । असम्भावितस्या-
नुभवसिद्धस्याध्यासनियमात् ॥ २६ ॥

ननु-प्रपञ्चो नाध्यस्तो बाधकाभावात्, न
च शुक्तौ रजतादिबद्धाधोऽस्तीत्याशङ्क्य तदध्य-
स्तताग्राहकं प्रमाणमेव तद्बाधकमित्याह-

तद्युगाधिभदसे ही है, वस्तुतः अबधित लाघवरूपेहेतु
से सुखदुःखादिविषयक अनुभव एक ही है । वही अनु-
भव अन्य-पुरुषके सुखादिकोंका भी साधक (प्रकाशक)
है, अतः समस्त संसारका प्रकाशक एक ही चैतन्य है ।
वही घटादि पदार्थोंका भी प्रकाशक है, वही श्रुतिसिद्ध
आत्मा है, आत्माके साथ ज्ञानका अभेद माननेमें कुछ
भी बाधक नहीं है; अतः ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है ।

इसप्रकार पूर्वोक्त अनुमानसे आत्माकी आनन्द-
रूपता सिद्ध होने पर, आनन्दको दुःखविरोधी होनेसे
तथा अनित्यताका सम्बन्ध न होनेसे आत्मामें निर्दुःखता,
एवं नित्यता सिद्ध हुई, अतः आत्मा दुःखरहित, नित्य,
ज्ञान, तथा आनन्द स्वरूप है । एवं दृश्य होनेसे, तथा
अग्रिम युक्तियोंसे समस्त प्रपञ्चको अनिर्वचनीय सिद्ध
होने पर, आत्मा सजातीय आदि भेदसे रहित भी सिद्ध
होता है, अतः श्लोकमें कहे हुए विशेषणोंसे युक्त आत्मा
की सिद्ध हो गई । आनन्दविग्रह इत्यादि विशेषणों करके
वेदान्त-वेद्य समस्त आत्मस्वरूप उपलक्षण रूपसे कहा
गया है । ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मामें वस्तुतः जड़प्रपञ्च
का सम्भव कैसे हो सकता है ।

शंका-वस्तुतः जड़ प्रपञ्चका असम्भव है तो प्रपञ्च
का अनुभव क्यों हो रहा है ?

समाधान-अध्याससे, 'जहां असम्भावित अनुभवका
विषय हो, वहां अध्यास होता है ।' यह नियम है ॥ २६ ॥

शंका-बाधक न होनेसे प्रपञ्च अध्यस्त (कल्पित)
नहीं है, जैसे शुक्तिमें भ्रान्तिसे प्रतीत रजतादिका बाध
होता है, तैसे प्रपञ्चका बाध भी नहीं है !

समाधान-प्रपञ्चके अध्यस्तत्वका ग्राहक प्रमाण
ही प्रपञ्चका बाधक है, यह कहते हैं-

अध्यस्तमल्पवपुःस्य न वास्तवं तत् प्रत्यक्पराङ्मुखमिदं हि परस्परस्मिन् ।

अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्र-संन्योऽन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम् ॥२७॥

इस आत्माका अहंकारादि, आत्म-अनात्मद्वयमिश्रित, परिच्छिन्नरूप अध्यस्त है, वास्तविक नहीं है, यह परिच्छिन्नरूप ही अन्योऽन्याध्यासका सूचक है, आत्मा व अनात्माके परस्पर तादात्म्य-सम्बन्धमें एकमात्र अज्ञान ही निमित्त है ॥ २७ ॥

अध्यस्तमिति । आरोपितमित्यर्थः । बाह्या-
ध्यात्मिकप्रपञ्चोऽध्यस्तो न वास्तव इति वा परि-
च्छिन्नत्वाच्छुक्तिरजतादिवदित्यभिप्रेत्याह—अल्प-
वपुः । अस्यात्मनोऽल्पं वपुः । यथा
प्रसिद्धं वपुः स्वातिरिक्तमात्मानं स्वस्वरूपेण निरु-
पयद्वच्छिनत्ति, एवमहङ्कारादिरपि सच्चिद्रूप-
मात्मानं स्वेन रूपेण भासयतीति वपुः । एतच्चा-
ध्यस्तत्रोपोद्बलनायोक्तम् ।

ननु—‘सन्धट’ इत्यादिप्रतीतिविरोधान्नेद-

मनुमानं साधित्याशङ्क्य निरधिष्ठानाध्यासायो-

गात्सच्चिद्रूपात्मन एव तदधिष्ठानत्वं वाच्यम् ।

ततश्च सत्यानृतात्मत्वात्प्रपञ्चस्य तत्र सद्बुद्धि-

रन्यथासिद्धप्रतीत्याशयेनाह—तत्प्रत्यक् पराङ्मुखमिति ।

अध्यस्त शब्दका अर्थ आरोपित है । बाह्य एवं आ-
ध्यात्मिक प्रपञ्च, अध्यस्त है, अथवा पारमार्थिक नहीं
है, परिच्छिन्न होनेसे, शुक्तिरजतादिकी तरह । इस
अनुमानको हृदयमें रखकर कहते हैं—अल्पवपुः ।
इस आत्माका अल्प परिच्छिन्न दृश्य, वपु (शरीर) की
तरह वपु है । अर्थात् जैसे प्रसिद्ध हस्तपादवाला शरीर
अपनेसे भिन्न आत्माको अपने रूपसे बतलाता हुआ,
अपने समान बनाता है, इसीप्रकार अहंकारादिक
प्रपञ्च भी सच्चिद्रूप आत्माको अपने रूपसे भास कराता
है, अतः अहंकारादिक दृश्य भी वपु है । यह अनुमान
प्रपञ्चके अध्यस्तत्वकी दृढ़ताके लिये कहा गया है ।
अध्यास तो श्रुतिसेही सिद्ध है ।

शंका—‘घट सत्य है’ इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतिसे
विरुद्ध होनेके कारण, प्रपञ्च-मिथ्यात्व साधक यह
अनुमान ठीक नहीं है ।

समाधान—अधिष्ठानके बिना अध्यास नहीं होता
है, अथवा आधारके बिना परिच्छिन्न दृश्य नहीं टिक
सकता है, अतः प्रपञ्चाध्यासका अधिष्ठान, व आधार
सच्चिद्रूप आत्मा ही कहना चाहिये । इसप्रकार प्रपञ्च
सत्य एवं अनृत (मिथ्या) उभयरूप सिद्ध होता है,
अतः इस घटादि प्रपञ्चमें ‘सन्धट’ इत्यादि सद्बुद्धि,
अधिष्ठानको लेकर अन्यथासिद्ध हो जाती है, इस
आशयसे कहते हैं—तत्प्रत्यक् पराङ्मुखमिति । अर्थात्

तद्-अल्पवपुः प्रत्यक्परागद्वयसमुदायात्मकमि-

त्यर्थः । न चाप्रयोजकत्वम् । प्रपञ्चविलक्षण-

आत्मनि प्रपञ्चात्मताया असम्भवस्योक्तत्वात् ।

नन्वध्यस्तमपि शुक्तिरजतादि सत्यमेवेत्यत्राह-

न वास्तवमिति । उक्तरीत्या तस्यानिर्वचनीयत्व-

साधनादित्यर्थः ।

अथवा-नन्वधिष्ठानाध्यस्यमानांशेद्वयोल्ले-

खित्वं भ्रमस्य दृष्टम् । अहमिति प्रत्ययस्त्वेकरूपो

द्रष्टृमात्रविषयः कथमध्यास इत्याशंक्याह-तत्प्र-

त्यक्परागिति । अहमित्यनुभवेऽपि निपुणं

निरूप्यमाणे दृग्दृश्यात्मना प्रत्यगंशः परागंशश्च

भासते, तस्य चेदमनिदंरूपस्य तप्तायःपिण्ड-

वद्विरुद्धोभयरूपत्वादध्यासं विनैकत्वबोधासम्भ-

वादेतदुभयं परस्परस्मिन्परस्परात्मत्वेनाध्यस्ततां

प्रति योग्यमित्यर्थः ।

प्रपञ्चका वह अहंकारादि अल्परूप, आत्मा (अधि-
ष्ठान) अनात्मा (अध्यस्त) उभयका समुदाय रूप है ।

शंका-आपका पूर्वोक्त अनुमान अप्रयोजक है ।
अर्थात् 'परिच्छिन्नस्वरूप हंतु प्रपञ्चरूपपक्षमें रहो,
परन्तु अध्यस्तस्वरूप साध्य मत रहो' इस प्रकारकी व्यभि-
चार-शंकाके उद्भावन करने पर अनुकूल तर्करूप प्रयो-
जक नहीं है ।

समाधान-—'प्रपञ्चविलक्षण असंग अद्वितीय
आत्मामें प्रपञ्चका असम्भव है' यह व्यभिचार शंकाका
निवर्तक अनुकूल तर्क कह आये है । यदि प्रपञ्च अध्य-
स्त न होता तो असंग अद्वितीय आत्मामें प्रपञ्चकी
प्रतीति ही नहीं होती, प्रतीति होती है, अतः प्रपञ्च
अध्यस्त है, यह अनुकूल तर्करूप प्रयोजकका स्वरूप है ।

शंका-अध्यस्त भी शुक्ति रजतादि सत्य ही रहो ।

समाधान-न वास्तवमिति । अध्यस्त वास्तविक
सत्य नहीं होता, पूर्वोक्तरीतिसे अध्यस्त शुक्तिरजतादिको
अनिर्वचनीय (मिथ्या) सिद्ध कर आये हैं ।

अब प्रकारान्तरसे शंका एवं समाधान करते हैं-

शंका-भ्रममें अधिष्ठान एवं अध्यस्त उभयके अंश
की प्रतीति देखी गई है । 'अहम्' इत्याकारक प्रतीति
तो केवल द्रष्टा (आत्मा) विषयक होनेके कारण एकरूप
है, अतः 'अहम्' प्रतीति अध्यास कैसे है ?

समाधान-—अच्छीप्रकारसे निरूपण करने पर
'अहं' अनुभवमें भी दृष्टारूपसे प्रत्यगात्माका अंश,
तथा दृश्यरूपसे अनात्माका अंश प्रतीत होता है । अतः
अग्निसे तपे हुए लोहेके पिण्डकी तरह अहंकार भी इदं-
रूप (अनात्माका अंश) एवं अनिदंरूप (आत्माका
अंश) विरुद्ध-उभयरूप है, इसलिये अध्यासके विना
दोनों विरुद्ध रूपोंका अभेद बोध असम्भव है, अतः
'अहम्' यह दृष्टा व दृश्यका मिथुनीभाव ही परस्परमें
परस्पराध्यासके प्रति योग्य निमित्त है ।

ननु-प्रत्यक्षपराचोः सादृश्याभावादिशुद्धे
 क्षत्तमनि दोषस्याप्यसम्भवादरोप्यस्य च पूर्वमन-
 नुभवेन संस्काराभावात् कथं परस्पराध्यास इत्यत
 आह—अबोधमात्रमिति । स्फुरतोऽपि तत्त्वानवबोधः
 सर्वत्राध्यासपुष्कलकारणम् । स चात्मन्यनुभव-
 सिद्धश्चेत्काऽत्र विसामग्रीत्यर्थः । अन्योऽन्येति ।
 अन्योऽन्यार्थाध्यासे मिथुनीकरणे चेत्यर्थः । प्रत्य-
 क्षपराग्रूपं ह्यन्योऽन्यात्मकमन्योऽन्यधर्मवच्चाध्यस्तं
 तस्यै मिथुनीकरणं नाम ज्ञानाध्यासः तदुभयाव-
 च्छिन्नमेकं ज्ञानमिति यावत् । असंसर्गाग्रहनिबन्ध-
 नत्वनभ्युपगमादित्युभयत्राज्ञानमेव निमित्तमिति
 भावः । ततश्च प्रत्यगज्ञानमेव बुद्ध्याद्यात्मना
 तदुभयोपरक्तज्ञानात्मना च परिणममानमहमिति
 साक्षिविषयः ।

तदुक्तम्—

“अविद्यैव बाह्यदोषापेक्षया रजताद्याकारेण

शंका—आत्मा अनात्माका सादृश्य नहीं होनेसे,
 विशुद्ध आत्मामें लोभ भय आदि दोषोंका असम्भव होने
 से, तथा प्रथम अनुभव न होनेके कारण, आरोप्य वस्तु
 विषयक संस्कार नहीं होनेसे, आत्मा अनात्माका अन्योऽ
 न्याध्यास कैसे होगा ?*

समाधान—अबोधमात्रमिति । अस्तित्वादि सामान्य-
 रूपसे प्रतीयमान अधिष्ठानका विशेषरूपसे अज्ञानही
 सभी स्थलोंमें अध्यासका एकमात्र पुष्कल (अव्यभि-
 चारी) कारण है । वह अज्ञान यदि आत्मामें अनुभव
 सिद्ध है, तो अध्यासमें कौनसी सामग्रीका अभाव है ?
 अर्थात् कारण सामग्रीका अभाव नहीं है । ‘अन्योऽन्य-
 रूप मिथुनीकरण’ का अन्योऽन्यार्थाध्यास तथा मिथुनी-
 करण यह दो अर्थ हैं । ‘अहं’ ‘घटः सन्’ इत्यादि स्थलोंमें
 आत्मा और अनात्माका स्वरूप अन्योऽन्यतादात्म्यवाला
 तथा अन्योऽन्यके धर्मवाला प्रतीत हो रहा है, यह अर्थाध्यास
 है । धर्मधर्मियोंका मिथुनीकरण ज्ञानाध्यास है, अर्थात् एक
 दूसरेके ज्ञानोंकी एक-दूसरेमें भ्रान्ति । अथवा एकरूपसे
 आत्मा व अनात्मा—को विषय करनेवाले एक ज्ञानका नाम
 ज्ञानाध्यास है । परस्पर सम्बन्धाभाव (भेद) के ज्ञान
 के अभावको अध्यासके प्रति निमित्त नहीं माननेसे,
 अर्थाध्यासमें एवं ज्ञानाध्यासमें एकमात्र अज्ञानही निमित्त
 है, यह भाव है । इसलिये प्रत्यगात्माका अज्ञानही बुद्ध्यादि
 अर्थरूपसे तथा आत्म-अनात्म (अधिष्ठानारोप्य) उभय
 विषयक ज्ञानरूपसे परिणत हुआ, ‘अहं’ इत्यादिरूपसे
 साक्षीका विषय है ।

पूर्वाचार्योंने भी कहा है—

‘अविद्या ही मन्दान्धकारादि बाह्य दोषोंकी अपेक्षा

* शुक्तिरजतादिस्थलोंमें तो शुक्ति-रजतका सादृश्य है, मन्दान्धकारादि दोष है, एवं पूर्वानुभूत-रजतके संस्कार
 हैं, अतः अध्यास बन सकता है, परन्तु आत्म-अनात्मके अध्यासमें सादृश्यादि कारण नहीं होनेसे अध्यास कैसे होगा ?
 यह शंकाका आशय है ।

साक्षिचैतन्यस्य रजतावच्छेदकज्ञानाभासाकारेण च परिणममाना स्वकार्येण सह साक्षिविषयत्व-
मापद्यते” इति। अयमर्थः—दुष्टेन्द्रियस्य शुक्तिसन्नि-
कर्षादिदमिति प्रमाणवृत्तिर्भवति, तत्प्रतिफलित-
शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठशुक्तित्वाज्ञानं राग-
संस्कारादिसचिर्वं शुक्त्या सह मिथ्यातादात्म्या-
पन्नरजतात्मना परिणमते, इदमाकारवृत्त्यवच्छि-
न्नचिनिष्ठशुक्तिविषयत्वाज्ञानं तु ज्ञानसंस्कार-
सहकृतं साक्षिरजतसम्बन्धापादकरजतज्ञानात्मना,
तच्च जड़त्वान्न स्वविषयसाधकमिति सविलासा-
ज्ञानं साक्षिविषय इति ।

अत्र केचित् । किं रजतज्ञानात्मकाविद्या-

वृत्त्या, तथा विनाऽपीदमाकारवृत्त्यभिव्यक्त

साक्षिणैव रजतप्रतिभासोपपत्तेः । अध्यस्तरज-

तादेः प्रमाणागम्यत्वेनावरणरहितत्वात् । आव-

रणाभिभवार्थं चिदुपरागार्थं वा वृत्तेरन्यत्र स्वी-

कारात् । अतएव ज्ञानसुखादौ न वृत्त्यन्तरमुपेयते,

करके रजतादिरूपसे, तथा साक्षि चैतन्य सम्बन्धी रजत
विषयक ज्ञानाभासरूपसे परिणत हुई, रजतादिस्वकार्य
के साथ साक्षिविषयताको प्राप्त होती है ।

यहां यह अर्थ (तात्पर्य) है—दोषयुक्त इन्द्रिय-
वाले मनुष्यको शुक्तिके सम्बन्धसे ‘इदं’ ऐसी चक्षुरादि
प्रमाणजन्य, वृत्ति उत्पन्न होती है, उस प्रमाणवृत्तिमें
शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रतिबिम्बत होता है, उस चैतन्य
निष्ठ शुक्तित्व विषयक अज्ञान, राग संस्कारादिके सह-
कार द्वारा, शुक्तिके साथ मिथ्यातादात्म्य सम्बन्धसे युक्त
रजतरूपसे परिणत होता है । और इदमाकारवृत्तिसे
अवच्छिन्न चेतननिष्ठ शुक्ति विषयक अज्ञान तो रजत-
ज्ञानके संस्कारके सहकार द्वारा साक्षीके साथ रजतका
सम्बन्ध करानेवाला रजतज्ञानरूपसे परिणत होता है ।
वह रजतज्ञानरूप अविद्याका परिणाम, जड़ होनेके
कारण स्वविषयका साधक (प्रकाशक) नहीं हो सकृता
है, अतः रजत, रजतज्ञान, आदि कार्य सहित, शुक्तित्व
विषयक अज्ञान, साक्षीका ही विषय है ।

यहां कोई प्रतिवार्दा शंका करते हैं—

शंका—रजतज्ञानरूप अविद्यावृत्तिका क्या प्रयोजन
है ? तिसके विना भी इदमाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे
रजतकी प्रतीति उपपन्न हो सकती है, प्रमाणगम्य न
होनेके कारण अध्यस्त रजतादि आवरणसे रहित है ।
आवरणके अभिभवके लिये, तथा चैतन्यके साथ संबंध
के लिये घटादिस्थलमें वृत्तिका स्वीकार किया है, इसीलिये
ज्ञान-सुख आदिमें अन्य वृत्ति नहीं मानी जाती है, क्योंकि
अनावृत चैतन्यमें अध्यस्त होनेसे ही ज्ञानसुखादिकोंका
भान हो सकता है । यदि ज्ञान सुखादि विषयक वृत्ति मानी
जाय, तथा केवल साक्षी चैतन्यसे ज्ञानसुखादिका भान
न माना जाय तो, वृत्ति भी तो सुखादिकी तरह
अन्तःकरणका धर्म है, वृत्तिके भानमें भी अन्यवृत्तिकी-

तेषामनावृत्तचैतन्याध्यस्तत्वादेव भानसम्भवात् ।

अन्यथा वृत्तावपि वृत्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेः ।

नापि संस्कारार्था वृत्तिः, रजतविशिष्टचिन्नाशेनैव

सुखादाविव तज्जननात् । न चार्थनाशजसंस्कारस्य

स्मृत्यहेतुत्वात् वृत्तिसिद्धिः । सुखादावेव तत्क-

ल्पनात् । वृत्त्यन्तरापेक्षया धर्मकल्पनामात्रत्वेन

लघुत्वाच्च । न च ज्ञानसंस्कारस्यार्थाहेतुत्वम्,

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिदं तत्कल्पनात् । अतएव

प्रातीतिकं रजतं, दोषादेरप्यावश्यकरजतोत्पा-

देनैवार्थवत्त्वमिति वदन्ति ।

अत्रोच्यते । अनावृत्तचैतन्याध्यस्ततामात्रस्य

जडभानप्रयोजकत्वेऽनुमेय-बहुयादेरभानापत्तिः ।

अत्र विषयगतावरणभङ्गानङ्गीकारात् । कथं तदि

अपेक्षा होगी, उस अन्यवृत्तिके प्रकाशार्थ उससे अन्य-
वृत्तिकी अपेक्षा होगी, इसप्रकार वृत्तिभानके लिये वृत्ति
मानने पर अनवस्था दोष होजायगा ।

सिद्धान्ती—रजतविषयक संस्कारके लिये रजत-
वृत्तिकी आवश्यकता है ?

प्रतिवादी—जैसे सुखावच्छिन्न चैतन्यके नाशसे
सुखविषयक संस्कार उत्पन्न होता है, तद्वत् रजतावच्छिन्न
चैतन्यके नाशसे ही रजत-विषयक संस्कार उत्पन्न हो
जायगा, अतः संस्कारके लिये भी रजतविषयक अविद्या
वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है ।

सिद्धान्ती—सुखादि-अर्थके नाश जन्य संस्कार,
स्मृतिका हेतु नहीं होता है, किन्तु सुखादि-अर्थ विष-
यक वृत्तिके नाशजन्य संस्कार ही स्मृतिका हेतु होता
है, अतः वृत्तिकी आवश्यकता है ?

प्रतिवादी—सुखादिस्थलमें ही 'अर्थ नाशजन्य
संस्कार स्मृतिका हेतु है' यह कल्पना कर सकते हैं ।
वृत्तिरूप धर्मो-कल्पनाकी अपेक्षा स्मृति हेतुत्वरूप
धर्मकी एकमात्र कल्पना लघु है ।

सिद्धान्ती—ज्ञानका संस्कार अर्थका हेतु नहीं हो
सकता है ।

प्रतिवादी—अन्वय एवं व्यतिरेकसे भ्रान्ति स्थलमें
ही 'ज्ञानका संस्कार अर्थका हेतु है' यह भी कल्पना
की जायगी । इसीलिये रजत प्रातीतिक है । मन्दान्व-
कार आदि दोष भी आवश्यक रजतके उत्पादनसे ही
चरितार्थ हैं । ऐसी शंका कोई करते हैं ।

इसप्रकार शंका होनेपर सिद्धान्ती 'अत्रोच्यते' से
समाधान कहते हैं—

समाधान—अनावृत्तचैतन्यमें अध्यस्तत्वमात्रकोही
यदि जडभानका प्रयोजक मानोगे तो अनुमेयबहुयादिकोंका
भान कदापि न होगा, क्योंकि अनुमानस्थलमें बहुयादि-
विषयनिष्ठ आवरणका भङ्ग नहीं माना गया है ।

तत्र वह्निमानम् । अनुमानरूपवृत्त्याऽन्तःकर-
णावच्छेदेन वह्निविषयकाज्ञानापसरणात् ।
'वह्निमहं न जानामी' त्यनुभवेन ब्रह्मावात्मनि
चाज्ञानसाधनात्तदन्यतरावरणभङ्गस्य च वह्नि-
व्यवहारहेतुत्वमिति वक्ष्यते । ततश्च तदाकार-
वृत्तिविषयत्वमेवास्वच्छतामसेषु भानप्रयोजकमा-
स्थेयम् । स्वच्छान्तःकरणसुखादिभाने च वृत्ति-
विनाऽपि तदाकारत्वसंभवाच्चित्प्रतिबिम्बाश्रयत्व-
मपीति जड़प्रतिभासे द्वयमेव गतिः । चैतन्यं हि
यदाकारवृत्तौ प्रतिबिम्बते तद्भासयति प्रतिबि-
म्बाश्रयं च वृत्त्यादिकं तथादर्शनात् ।

न च क्वचिद् वृत्तिः क्वचित्प्रतिबिम्बाश्रयत्वं
तन्त्रमित्यननुगमः । सर्वजड़प्रतिभासानुगतं हि
चैतन्याकारत्वमेव प्रयोजकं ब्रूमः । चैतन्यं यदा-
कारं भवति तत्प्रतिभासत इत्यर्थः । चैतन्यस्य
तदाकारत्वं न स्वतोऽसङ्गत्वात् । किन्तु क्वचित्

शंका—तव अनुमानस्थलमें वह्निका भान कैसे
होता है ?

समाधान—'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक अनु-
मानरूपवृत्ति द्वारा अन्तःकरणावच्छेदेन वह्निविषयक-
अज्ञानके निराससे वह्निका भान हो जायगा 'मैं वह्निको
नहीं जानता हूँ' इस अनुभवसे वह्निमें तथा आत्मामें
अज्ञानकी सिद्धि होती है । 'वह्नि विषयक-आवरणभङ्ग,
या आत्मनिष्ठावरणभङ्ग, वह्नि व्यवहारका कारण है' यह
हम आगे कहेंगे । इसलिये 'स्वाकार वृत्तिकी विषयता'
ही अस्वच्छ, तामस, पदार्थोंके भानका प्रयोजक है, ऐसा
मानना चाहिये । और 'चैतन्यके प्रतिबिम्बकी आश्रयता'
स्वच्छ अन्तःकरण और उसके धर्म सुखादिके भानका प्रयो-
जक है, क्योंकि स्वच्छसुखादिस्थलमें वृत्तिके विना भी साक्षी
में सुखाकारत्वका सम्भव हो सकता है । इसप्रकार जड़
पदार्थोंके भानमें दो प्रयोजक हैं । जिस-जिस पदार्थके
आकारवाली वृत्तिमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, उस-
उस पदार्थका वह प्रतिबिम्बित चैतन्य प्रकाश करता है,
और प्रतिबिम्बके आश्रय वृत्ति, सुख आदिका भी प्रकाश
करता है, ऐसा देखनेमें आता है ।

शंका—किसी स्थलमें वृत्ति, और किसी स्थलमें
प्रतिबिम्बाश्रयत्व, जड़ पदार्थके भानका प्रयोजक है,
इसप्रकार विभिन्नप्रयोजक माननेपर अननुगम हो जायगा ।

समाधान—समस्त जड़ पदार्थोंके भानमें 'चैतन्या-
कारता' एकमात्र अनुगत प्रयोजक है, ऐसा हम कहते
हैं, अर्थात् जिस जिस पदार्थके आकारवाला चैतन्य
होता है, वह वह पदार्थ प्रकाशित होता है । असङ्ग
होनेके कारण चैतन्यकी पदार्थाकारता स्वतः नहीं है,
किन्तु किसी स्थलमें केवल प्रतिबिम्ब द्वारा तथा किसी
स्थलमें पदार्थाकार वृत्तिके सम्बन्ध द्वारा चैतन्य, पदार्थ-
कारवाला होता है, यह अन्य बात है । सात्त्विक

प्रतिबिम्बात् कचित्तदाकारवृत्तिसम्बन्धादित्यन्यदे-
तत् । तत्र साच्चिकान्तःकरणतद्वर्मेण प्रतिबिम्बात्,
तामसेषु तदाकारवृत्तिसम्बन्धादेवेति, कुतो रज-
ताकारवृत्तिं विना तद्भानम् ।

नचाध्यस्तरजतस्य अस्वच्छतामसस्य चि-
त्प्रतिबिम्बाश्रयत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् अस्वच्छर-
जतसंस्कारसंस्कृताविद्यारब्धत्वेनास्वच्छत्वादिति
सिद्धाऽविद्यावृत्तिः । ननु-परोक्षे तदाकारवृत्ति-
रपरोक्षे त्वनावृत्तचिदध्यस्तत्त्वं तन्त्रमस्तु । मैत्रम् ।
साध्यान्वसामग्रीं विना विशेषसामग्र्या अहेतुत्वेन
तत्राप्यस्वच्छतामसमात्रभानहेतुवृत्तिविषयत्वस्या-
परिहार्यत्वात् ।

किं च रजतस्य विषयावच्छिन्नसाक्षिभा-
स्यत्वे 'अहं रजतवान्' इति प्रतीतिः स्यात्, न
त्वहं रजतज्ञानवानिति ।

किं च तन्मतेऽर्थसंस्कारस्य स्मृतिहेतुत्वं
ज्ञानसामग्र्या अर्थहेतुत्वं चाक्लृप्तं कल्प्यमिति
गौरवम् । प्रातीतिकत्वं च प्रतीतिकालान्यकाला-
सत्त्वं, न तु प्रतीतिजन्यत्वं, संस्कारादेरपि प्राती-

(स्वच्छ) अन्तःकरण तथा उसके सुखादि धर्मोंमें केवल
प्रतिबिम्बद्वारा, तथा तामस (अस्वच्छ) घटादिमें घटा-
द्याकारवृत्तिके सम्बन्धद्वारा चैतन्य पदार्थकार होता है ।
अतः प्रकृतस्थलमें तामस रजताकार अविद्यावृत्तिके विना
रजतका भान कैसे हो सकता है ? अर्थात् रजत-
भानार्थ रजताकार वृत्तिकी आवश्यकता है ।

और तमःप्रधान, अस्वच्छ, अध्यस्त रजत को
चैतन्यके प्रतिबिम्बका आश्रय मानना युक्ति संगत नहीं
है, क्योंकि अस्वच्छ रजतके संस्कारसे युक्त अविद्यासे
जन्य होनेसे शुक्तिरजत भी अस्वच्छ है, अतः परि-
शेषसे रजतविषयक अविद्यावृत्ति सिद्ध हो गई ।

शंका-परोक्षभानमें 'पदार्थाकारवृत्ति', तथा अप-
रोक्षभानमें 'अनावृत्त चैतन्यमें अध्यस्तत्व', प्रयोजक
रहो ।

समाधान-यह नहीं कह सकते, क्योंकि-वृत्ति-
रूप सामान्य सामग्रीके विना, चिदध्यस्तत्वरूपविशेष-
सामग्री हेतु नहीं हो सकती है, अतः शुक्तिरजत-
स्थलमें भी अस्वच्छ, तामस, पदार्थमात्रके भानका हेतु
वृत्तिविषयताको हटा नहीं सकते हैं ।

और रजतको रजतावच्छिन्नसाक्षिभास्य माननेपर
तो (सुखादि की तरह) 'मैं रजतवाला हूँ' ऐसी प्रतीति
होगी । 'मैं रजतज्ञानवाला हूँ' ऐसी प्रतीति न होगी ।

और रजत-वृत्तिकोस्वीकार नहीं करनेवाले वादी
के मतमें-जो अर्थ संस्कारमें स्मृतिकी कारणता, तथा
ज्ञानसामग्री (ज्ञानसंस्कारादि) में अर्थकी कारणता
अक्लृप्त (अनिश्चित) है, उसकी कल्पना करनेसे
गौरव है । प्रतीतिकालसे अन्यकालमें जिसका सत्त्व
(विद्यमानत्व) न हो उसकानाम प्रातीतिकत्व है ।
प्रतीतिजन्यत्व प्रातीतिकत्व नहीं है । यदि प्रतीति-
जन्यत्व ही प्रातीतिकत्व माना जायतो, संस्कारादि भी प्राती-

तिकत्वापत्तेः, नच साक्षिकालान्यकालः संभ-
वतीति अविद्यावृत्तिरेव तत्प्रतीतिः ।

ननु—तवाप्यविद्यावृत्ते रजतविषयत्वाद्धीवृत्ते
श्रेदंमात्रविषयत्वात्, इष्टपुरोवर्तिविशिष्टविषयं वृत्त्य-
न्तरं प्रवर्तकं कल्प्यमिति गौरवमिति चेन्न । एका-
वच्छिन्नजलदर्पणयोरेकमुखप्रतिबिम्बवदेकतापन्न-
सत्यमिध्यावस्तुद्वयेऽप्येकप्रतिभासाभ्युपगमेन
शुक्त्यभेदापन्नरजतस्फुरणस्य फलस्यैकत्वात्
प्रवृत्त्युपपत्तेरिति संक्षेपः ॥ २७ ॥

सादृश्यज्ञानादेरध्यासहेतुत्वं व्यभिचारेण
निरस्यति—

सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्त—मध्यासभूमिषु जगत्पुनरुपलब्धमिहास्ति किञ्चित् ॥ २८ ॥
ब्राह्मण्यजातिपरिकल्पनमात्मनीष्टं, जाल्या न साम्यमुपलब्धमिहास्ति किञ्चित् ॥ २८ ॥

संसारमें अध्यासके स्थलोंमें सादृश्यज्ञान आदि अर्थात् सादृश्यज्ञान, दोष एवं संस्कार ये तीन
निमित्त, सर्वत्र अनुगत नहीं हैं । क्योंकि आत्मामें ब्राह्मणत्वजातिका अध्यास सभीने स्वीकार किया
है, परन्तु जातिके साथ आत्माका कुछ भी सादृश्य उपलब्ध नहीं है ॥ २८ ॥

सादृश्यधीति । सर्वाध्यासाननुगतत्वात् हेतु-
त्वाभिमतमेतत्त्रितयं सादृश्यधीदोषसंस्कारात्म-
कम् अध्यासनिमित्तमित्यर्थः । सादृश्यधियो व्य-
भिचारस्थानमाह—ब्राह्मणेति । 'ब्राह्मणोऽहम्' इति

तिजन्य होनेसे प्रातीतिक होजायेंगे । एवंच साक्षीके
कालसे अन्यकालका तो सम्भव नहीं हो सकता है,
अतः अविद्यावृत्ति ही रजतविषयक प्रतीति है, ऐसी
मानना चाहिये ।

शंका—आप(सिद्धान्ती)के मतमें रजतविषयक अवि-
द्यावृत्ति है, और इदंविषयक अन्तःकरणवृत्ति है, अतः
आपको भी—इष्ट—पुरोवर्ति 'इदं' और 'रजत' उभय
विषयक, प्रवृत्तिकी कल्पना करनेसे—गौरव हो जायगा ।

समाधान—जैसे एकदेशमें स्थित जल और दर्पण
उभयमें एकही मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तद्वत् पर-
स्पर तादात्म्यापन्न शुक्तिरजतरूप सत्य मिथ्या वस्तुमें
एक ही प्रतिभासका स्वीकार है, अतः शुक्तिके साथ
तादात्म्यापन्न रजतके भानरूप फलको एक होनेसे रज-
तार्थीकी प्रवृत्ति उपपन्न हो सकती है, यह व्याख्यानका
संक्षेप है ॥ २७ ॥

सादृश्यज्ञानादिमें अध्यासकी कारणताका व्यभि-
चार प्रदर्शन करके खण्डन करते हैं—

सभी अध्यासोंमें अनुगत न होनेसे कारणत्वा-
भिमत सादृश्यज्ञान, मन्दान्धकारादि दोष, तथा पूर्वानु-
भूतवस्तुके संस्कार, ये तीनों अध्यासके निमित्त नहीं
हैं । सादृश्यज्ञानके व्यभिचारका स्थल कहते हैं—
ब्राह्मणेति । 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह ब्राह्मणत्व जातिका

जात्यध्यास आत्मनि सर्वैरिष्यत, अन्यथा 'ब्राह्मणो
युजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति विधिनिषेध-
व्यवस्थानुपपत्तिः, तत्र च न सादृश्यमस्तीत्यर्थः ।

ननु सोऽपि त्रितयनिमित्तः अध्यासत्वा-

दिति नेत्याह—जात्येति । आत्मनि हि जात्या

सादृश्यमनुपलब्धिबाधितम् । द्वयोरपि गुणक्रिया-

वयवशून्यत्वात्, 'न तस्य प्रतिमा' इति श्रुतेश्चेत्यर्थः ।

ततश्च रजताद्यध्यासेष्वार्थिकं तत् त्रयं नत्वध्यास-

माश्रित्यमिति भावः ॥ २८ ॥

नःवत्रापि प्रमेयत्वादिना सादृश्यमस्तीत्या-

शङ्क्य न तादृक् सादृश्यमध्यासप्रयोजकमतिप्रस-

ङ्गात् किन्तु भूयोऽवयवगुणादिसाम्यम् । न चैत-

योस्तदस्तीत्याह—

भूयस्त्वत्तनुगुणावयवक्रियाणां,

सामान्यपूगवपुरुक्तमिहाभियुक्तैः ।

सादृश्यवस्तु न चिदात्मनि किञ्चिदत्र, जात्यादिभिः सह निरीक्षितमस्ति तादृक् ॥ २९ ॥

इस संसारके गोगवयादिस्थलोंमें जैमिनि आदि प्रामाणिक महानुभावोंने गवादिशरीरगत अनेक गुण, अवयव, एवं क्रियाओंका सामान्यसमूहरूप ही सादृश्य कहा है । इसचिदात्मामें जाति आदिके साथ गुणादिप्रयुक्त सादृश्य कुछ भी नहीं देखा गया है ॥ २९ ॥

अध्यास, आत्मामें सभी स्वीकार करते हैं । यदि आत्मामें ब्राह्मणत्वजातिका अध्यास न माना जाय तो 'ब्राह्मणको यज्ञ करना चाहिये' 'ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिये' यह विधि एवं निषेधकी व्यवस्था उपपन्न न होगी । परन्तु आत्मामें जातिके साथ कुछ भी सादृश्य नहीं है ।

शंका—आत्मामें ब्राह्मणत्वजातिका अध्यास भी अध्यासत्वरूप हेतुसे सादृश्यज्ञानादि तीन निमित्तों-वाला होगा ?

समाधान—आत्मामें जातिका सादृश्य, उपलब्ध न होनेके कारण बाधित है, क्योंकि आत्मा एवं जाति दोनोंही सादृश्यके प्रयोजक गुण, क्रिया, एवं अवयवसे रहित हैं । 'आत्माकी प्रतिमा (सादृश्य) नहीं है' इस श्रुतिसे भी सादृश्यका निषेध सिद्ध होता है । इसलिये रजतादिअध्यासोंमें सादृश्यज्ञान आदि तीनों निमित्त अर्थसे प्राप्त हैं, अध्यासमात्रके ये तीन अंग नहीं हो सकते हैं । यह भाव है ॥ २८ ॥

शंका—आत्मामें भी जातिके साथ प्रमेयत्वादि-रूपसे सादृश्य हो जायगा ।

समाधान—प्रमेयत्वादि सादृश्य, अध्यासका निमित्त नहीं हो सकता है, यदि ऐसे सादृश्यको निमित्त मानोगे तो अतिप्रसङ्ग (सभीका सभीके साथ सादृश्य) हो जायगा, क्योंकि प्रमेयत्वादि सर्वत्र विद्यमान हैं । किन्तु भूयोऽवयव, गुण आदिका साग्यही सादृश्य हो सकता है, परन्तु आत्मामें तथा जातिमें भूयोऽवयवादि सादृश्य नहीं है, यह कहते हैं—

भूयस्त्ववदिति । एतच्च सामान्यपूगवपुषो
विशेषणम्, गुणावयवादीनां बहूनामनेकसामान्या-
त्मकमित्यर्थः ।

अथवा—इह गोगवयादावभियुक्तै जैमिन्या-
दिभिः सामान्यपूगात्मकसादृश्यवस्तुक्तमित्य-
न्वयः । कासां व्यक्तीनामित्यत्राह—भूयस्त्ववतीनां
गवादितनुगतगुणावयवक्रियाणामिति । गुणानां
शुक्लत्वदीर्घत्वादीनि सामान्यानि, अवयवानां पाद-
पृष्ठत्वादीनि, क्रियाणां गमनभक्षणचर्वणत्वादीनि,
तेषां पूगः = समूह एव वपुर्यस्य । नन्विति पाठे
गुणादीनां भूयस्त्वं सादृश्यं वस्तुक्तमिति स्वार्थे
वतिर्व्याख्येयः ।

ननु—‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ इति
वैदिकप्रयोगादध्यासानुपपत्त्याचात्मन्यपि किञ्चि-
त्सादृश्यं कल्प्यमित्याशङ्क्याह—नेति । अत्र चिन्मा-
त्रात्मनि न तादृगपि सादृश्यं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ।
न च नित्यत्वसर्वगतत्वाद्यपि जातिसादृश्यम् ।
अनुवृत्तप्रत्ययकारणात्मिकाया जातेरनित्यत्वाज्जा-
ताववृत्तेरसर्वगतत्वाच्चेति भावः ॥ २९ ॥

‘भूयस्त्ववत्’ यह सामान्यपूगवपुषः विशेषण है ।
अर्थात् बहु गुणअवयव आदिकोंका अनेक सामान्यरूप
ही सादृश्य है ।

अथवा—गोगवयादिस्थलोंमें जैमिनि आदि ग्रामा-
णिक-पुरुषोंने सामान्यसमुदायरूप सादृश्य वस्तु कही
है, यह अन्वय है ।

प्रश्न—किन व्यक्तिओंका सामान्यसमुदायरूप
सादृश्य है ?

उत्तर—बहुत जो गवादिशरीरगत गुण, अवयव
एवं क्रियारूप व्यक्ति हैं तिनका सामान्यसमुदाय सादृश्य
है । गुणोंमें शुक्लत्व दीर्घत्व आदि सामान्य है, अवयवोंमें
पादत्व पृष्ठत्व आदि सामान्य है, क्रियाओंमें गमनत्व
भक्षणत्व चर्वणत्व आदि सामान्य है, इनका पूग यानी
समूह ही है वपु (रूप) जिसका, वह ही सादृश्य
है । ‘तनु’ के स्थानमें ‘ननु’ इस पाठमें गुणादीनां
भूयस्त्व (बहुत) ही सादृश्य पदार्थ कहा गया है,
अतः ‘भूयस्त्ववत्’ में लगा हुआ ‘वत्’ प्रत्यय स्वार्थमें
समझना चाहिये, अर्थात् उसका पृथक् अर्थ कुछ
नहीं है ।

शंका—‘आकाशकी तरह आत्मा सर्वगत एवं नित्य
है’ इस वेदकी श्रुतिसे तथा सादृश्यके बिना आत्मा-
अनात्माके अध्यासकी अनुपपत्तिरूपअर्थापत्तिप्रमाणसे
आत्मामें जातिके साथ सर्वगतत्वादिरूप कुछ भी सादृश्य
की कल्पना अवश्य करनी चाहिये ।

समाधान—इस चिन्मात्र आत्मामें सर्वगतत्वादिरूप
कुछ भी सादृश्य नहीं है । नित्यत्व सर्वगतत्वादिरूप
भी जातिके साथ सादृश्य नहीं हो सकता है, क्योंकि
‘घटः’ ‘घटः’ इत्याकारक अनुगत प्रतीतिका कारणरूप,
घटत्व ब्राह्मणत्वादि जाति, अनित्य है; तथा जातिमें
जाति न रहनेके कारण जाति सर्वगत भी नहीं है,
यह भाव है ॥ २९ ॥

योगतत्त्व-मीमांसा

[प्रथमखण्ड, पूर्व प्रकाशित अंक ४ पृ० १०९ से आगे]

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेद्वर)

मत्स्यावतार

मत्स्यावतारकी कथा वेदोंमें इसप्रकार पायी जाती है—

स होवाच । यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी नस्तावन्नाष्ट्रा
भवत्युत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रेविभरासि,
स यदा तामतिवर्धा अथ कर्पूं खात्वा तस्यां मा विभरा-
सि, स यदा तामतिवर्धा अथ मा समुद्रमभ्यवहरासि,
तर्हि ता भति नाष्ट्रो भवितास्मीति ।'

श्रीमद्भागवत-पुराणमें वही भगवान्‌के मत्स्यरूप धारणकी कथा इस प्रकार है—

एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ।

तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्य्येकाभ्यपद्यत ॥ १२ ॥

सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ।

उत्ससर्ज नदीतोये, शफरीं द्रविदेद्वरः ॥ १३ ॥

तमाह सातिकरुणं, महाकारुणिकं नृपम् ।

यादोभ्योज्ञातिवातिभ्यो, दीनां मां दीनवत्सल ॥ १४ ॥

× × ×

तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः ।

कलशाप्सु निधायैनां, दयालुर्निन्य आश्रमम् ॥ १६ ॥

सा तु तत्रैकरात्रेण, वर्धमाना कमण्डलौ ।

अलब्ध्वात्मावकाशं वा, इदमाह महीपतिम् ॥ १७ ॥

नाहं कमण्डलावस्मिन् कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहं ।

× × ×

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके ।

तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन, हस्तत्रयमवर्धत ॥ १९ ॥

न स एतदलं राजन्मुखं वस्तुमुदञ्चनम् ।

पृथु देहि पदं मह्यं यत्त्वाऽहं शरणं गता ॥ २० ॥

तत आदाय सा राज्ञा, क्षिप्ता राजन्सरोवरे ।

तदावृत्त्यात्मना सोऽयं, महामीनोऽन्ववर्धत ॥ २१ ॥

नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सल्लौकसः ।

निधेहि रक्षायोगेन, हृदे मामविदासिनि ॥ २२ ॥

इत्थुक्तः सोऽन्यन्मत्स्यं, तत्र तत्राविदासिनि ।

जलाशयेऽसंमितं तं समुद्रे प्राक्षिपन्क्षपम् ॥ २३ ॥

क्षिप्यमाणस्तमाहेद मिह मां मकरादयः ।

अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्सृष्टमर्हति ॥ २४ ॥

एवं विमोहितस्तेन, वदता वल्गुभारतीम् ।

तमाह को भवानस्मान्मत्स्यरूपेण मोहयन् ॥ २५ ॥

नैवं वीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपिच ।

यो भवान्योजनशत-मह्नाभिव्यानशे सरः ॥ २६ ॥

नूनं त्वं भगवान्साक्षात्, हरिर्नारायणोऽन्ययः ।

अनुग्रहाय भूतानां, धत्से रूपं जलौकसाम् ॥ २७ ॥

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ, स्थित्युत्पत्त्यप्ययेद्वर ।

भक्तानां नः प्रपन्नानां, मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभोः ॥ २८ ॥

(भा० स्कं० ८।२४)

इन श्लोकोंका भावार्थ यह है—एक समय नैमि-
त्तिक-प्रलय आजानेपर भगवान्‌ने भक्त-उद्धारार्थ मत्स्या-
वतार धारण किया । कृतमाला नदीके तटपर सत्यव्रत
नामक एक राजर्षि तर्पण कर रहे थे । इतनेमें एक
ओटी-सी मछली इनकी अञ्जलीमें उपरसे आगिरी ।
राजाने उसे नदीके जलमें छोड़ दिया, परन्तु मछलीकी
प्रार्थनासे उसे अपने कमण्डलुमें रख कर आश्रमको
चले आये । रातही रातमें वह मछली इतनी बड़ी
होगयी कि-वह पात्र उसके लिए पर्याप्त न रहा । उसने
राजर्षिसे किसी बड़े जल-स्थानमें रखनेके लिए प्रार्थना
की । राजाने उसके लिये कूपमें प्रबन्ध किया, परन्तु
वह वहाँ भी इतनी बड़ी होगई कि-वह स्थान उसके

लिये पर्याप्त न रहा, फिर उसने राजर्षिसे प्रार्थनाकी राजाने सरोवरमें वहाँ से उठाकर प्रबन्ध किया, परन्तु जब वह भी स्थान मछलीके बढ़जानेपर अपर्याप्त रहा तब उसे समुद्रमें रक्खा, फिर भी जब उस मछलीने भययुक्त करुणवचन कहे, तब तो वे प्रभु-भक्त राजर्षि उस माया-मत्स्यके स्वरूपको पहचान गये, और भक्ति-पूर्वक स्तुतिकरते हुए कहने लगे—आप मत्स्यरूपमें साक्षात् नारायण हरि भगवान् हैं, भगवान् के सिवाय साधारण-मछलीमें ऐसा पराक्रम नहीं हो सकता, आपने भूतोंके अनुग्रहार्थ मत्स्य रूप धारण किया है। हे पुरुष श्रेष्ठ ! हे सकलविश्वकी उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलयके नियन्ता ईश्वर ! आपको नमस्कार हो, हे विभो ! आप ही शरणागत-भक्तोंके मुख्य-आश्रय हैं।

तदनन्तर प्रलयमें समग्र-पृथिवी जल-मग्ना होजाती है, सउ समय उस-राजर्षिभक्तके उद्धारार्थ भगवान् की प्रेरणा से एक नौका आती है। उसका वर्णन वेदमें इसप्रकार है—

तदीय आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै स
औष उरिथिते नावमापघासैर्थां ततस्त्वां पारयिताऽस्मि ।
औषो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहायेह मनुरेवैकः
परिशिक्षिते ।’

भागवत पुराणमें इसका वर्णन इस प्रकार है—

त्रिलोक्यां लीयमानायां, संवर्ताम्भसि वै तदा ।
उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता ॥

× आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्रुवः ।

एकाणवे निरालोके, ऋषीणामेव वर्चसा ॥

दोधूयमानां तां नावं, समीरेण बलीयसा ।

उपस्थितस्य मे शृङ्गे, निबध्नीहि महाहिना ॥

अहं त्वामृषिभिः साकं, सह नावमुदन्वति ।

विकर्षन्विचरिष्यामि, यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो ॥

× ततः समुद्र उद्वेल सर्वतः प्लावयन्महीम् ।

वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥

(भा० स्क० ८।२४)

भगवान् सत्यव्रत राजर्षिसे कहते हैं—

प्रलयके जलमें त्रिलोकी लीन होने पर उस प्रकाशरहित समुद्रमें मुक्त (मत्स्य) से भेजी हुई विशाल एक नौका आयेगी। ऋषियोंके तेजसे उस विशाल नौकामें आरुढ़ होकर उपद्रवरहित होकर तू विहार करेगा। बलवान् वायुसे जब वह नौका अतीव कम्पायमान होगी, उससमय मैं (भगवान्) वहाँ आऊँगा, और महासर्परूपी रस्सीसे तू उस नौका को मेरे शींगमें बाँध देना। जबतक ब्रह्माकी रात्रि रहेगी, तबतक मैं समुद्रमें ऋषियोंके साथ तुम्हको नौकाके द्वारा खींचता हुआ विहार करूँगा। भगवान् को इसप्रकार कहनेके अनन्तर मर्यादारहित होकर, एवं वर्षनेवाले मेघोंसे बढ़ता हुआ, समुद्र सखस्त पृथिवीको डुबाने लगा।

इन्द्र दधीचि-चरित्र

वेदोंमें इन्द्र-दधीचिके चरित्रका उल्लेख है, उस चरित्रके विषयमें पुराणोंमें बड़े विस्तारसे बहुत कुछ लिखा गया है। पाठकोंके निःसंदिग्ध-समाधानार्थ, वेद-मन्त्र तथा पुराणके कुछ श्लोक, वेद एवं पुराणके साम-अस्यके लिये यहां दिये जाते हैं—

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कृतः ।

जघान नवतीर्नव (ऋग्वेद संहिता० १।८५।२१)

(सामवेद संहिता० उत्तरार्चिक० ५।३।१)

(तैत्तरीय ब्राह्मण० ५।१।८)

इच्छन्नवस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम् ।

यद्विदच्छर्प्यणावति (सामवेद सं० उ० ५।३।२)

अप्रतिष्कृतः = परैरप्रतिशब्दितः प्रतिकूलशब्दरहित इति यावत् इन्द्रविशेषणम् । वृत्राणि = वृत्रासुरजातानि मायारूपाणि—आवरकाणि, नवतीर्नव = नवसंख्याकाः नवतीः दशोत्तराष्टशतसंख्याकाः (८१०) जघान = हतवान् ।

अपश्रितम् = अपगत्य स्थितम् । अपवसम्बन्धि, दधीचः यच्छिरः तद्विच्छन् इन्द्रो वर्तते । शर्प्यणावति = एतत्सं-शके सरसि, यच्छिरः विदत् = अज्ञासीत् । ज्ञात्वा तदाहृत्य तदीयैः अस्थिभिः वृत्राणि जघान इति पूर्वस्यामृचि सम्बन्धः ।

श्रीमद्भागवतके श्लोक ये हैं—

मघवन् ! यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।

विद्याव्रततपः सारं, गात्रं याचत मा चिरम् ॥ ५१ ॥

स वा अधिगतो दध्यङ्, अश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।

यद्वा अश्वशिरो नाम, तथोरमरतां न्यघात् ॥ ५२ ॥

दध्यङ्काथवर्णस्वप्रे, वर्माभेद्यं मदाल्मकम् ।

विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥ ५३ ॥

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।

ततस्तैरायुधश्रेष्ठो, विश्वकर्मविनिर्मितः ॥ ५४ ॥

येन वृत्रशिरो हर्ता, मत्तेज उपवृंहितः ।

तस्मिन्विनिहते यूयं, तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।

भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो, न हिंसन्ति च मत्परान् ॥ ५५ ॥

(भा० स्क० ६।१२)

प्रसन्न हुए भगवान् इन्द्रसे कहते हैं—हे मघवन् इन्द्र ! आपका कल्याण हो, आप लोग, सर्वऋषियोंमें श्रेष्ठे दधीचि-ऋषिके समीप जाओ, और वहां जाकर विद्या, व्रत एवं तपसे शक्ति-सम्पन्न हुआ उनका शरीर मांगो, इस कार्यमें विलम्ब न करो। वे दधीचि मुनि, शुद्ध-निर्विकार ब्रह्मको अपरोक्ष जान चुके हैं, अतः उन्होंने घोड़ेके शिरसे अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था। जिस ब्रह्मविद्यासे अश्विनीकुमार जीवन्मुक्त हो गये हैं। अथर्वा-ऋषिके पुत्र एवं अथर्व-वेदके जाननेवाले ये दधीचि मुनि, अमेघ और मद्रूप-नारायण कवचको भी जानते हैं, अतः वह नारायण कवच, उन्होंने त्वष्टा-ऋषिको दिया था, और त्वष्टाने विश्वरूपको दिया था, और विश्वरूपसे तुमने वह कवच प्राप्त किया है। तुम तथा अश्विनीकुमार उनसे याचना करोगे, तो वे धर्मज्ञ दधीचि-मुनि, अपने शरीर की हड्डियां दे देंगे और विश्वकर्माजी, उन हड्डियोंसे वज्रनामका उत्तम शस्त्र बना देंगे। उस शस्त्रमें मेरा वैष्णव-तेज प्रविष्ट होगा, जिससे आप लोग अनायाससे वृत्रासुरके शिरका नाश कर सकोगे। वृत्रासुरके धरने

के बाद तुमको पुनः तेज, अस्त्र, आयुध और सम्पत्ति, वापिस मिल जायगी। आप लोग मेरे भक्त हैं, अतः आप भक्तोंका कोई भी अमंगल नहीं कर सकता है, आपका कल्याण ही होगा।

इन भागवत पुराणके तथा वेदके वाक्योंकी पाठक स्वयं तुलना करें इससे सिद्ध होता है कि—दोनोंकी भाषा विभिन्न होने पर भी चरित्रके भावोंका प्रायः सादृश्य स्पष्ट है।

विस्तारके भयसे वेदोंकी अन्याऽन्य कथाओंकी तुलना पुराणोंसे यहाँ नहीं की जाती है, स्थालीपुलाक-न्यायसे पाठकोंको निश्चय करना चाहिये कि—पौराणिक गाथाओंका बीजरूपसे सम्बन्ध वेदोंमें पाया जाता है।

इस प्रकार स्वाध्यायरूप वेदादिशास्त्रोंका संक्षेप से वर्णन किया।

ईश्वरप्रणिधान

अब हम स्वाध्यायके अनन्तर ईश्वरप्रणिधानका निरूपण करते हैं—प्रणिधानका अर्थ है भक्तिविशेष, प्रणवादि पवित्रमन्त्रोंका जप, मन्त्रार्थ-भगवान्की पुनः पुनः भावना एवं परमगुरु भगवान्में सर्वकर्मोंको तथा उनके फलोंको समर्पण करना, यह भक्तिविशेष है।

भक्तिका लक्षण

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाश्रये ।

मनोगतिरविच्छिन्ना, यथागंगाभसोऽम्बुधौ ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य, निर्गुणस्य ह्यशहतम् ।

अहेतुक्यव्यवहृता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

भगवान्के गुणगान सुनते ही सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान्के प्रति समुद्रगामिनी गङ्गाजीकी अविच्छिन्न धारा की नाई चित्तकी जो अविद्धिभगति है, एवं पुरुषोत्तम भगवान्में कामादिव्यवधानरहित, कामनाहीन जो परमस्नेह है, वह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है।

नारदसूत्रमें नारदजीने कहा है—

‘सा तस्मिन्परमप्रेमरूपा’

परमेश्वरके प्रति परमप्रेम ही भक्तिका स्वरूप है ।

शाण्डिल्यसूत्रमें कहा है—

‘सा परानुरक्तिरीश्वरे’

ईश्वरमें परम अनुराग ही भक्ति है ।

दैवीमीमांसामें महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—

‘स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा’

स्नेह, प्रेम एवं श्रद्धाकी वृद्धिसे परमेश्वरके प्रति जो अलौकिक-अनुराग उत्पन्न होता है, उसे भक्ति कहते हैं ।

अनुराग ही पुत्रादिमें स्नेहरूपसे, मित्रादिमें प्रेम रूपसे, एवं श्रेष्ठगुरुजनोंमें श्रद्धारूपसे प्रकट होता है, लौकिक अनुराग मलिन एवं तुच्छ है, और अलौकिक-ईश्वरानुराग शुद्ध एवं महान है ।

भक्ति रसायनमें मधुसूदन स्वामीने कहा है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्वारावाहिकतां गता ।

सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

भगवद् गुण-श्रवण-कथनादिरूप अथवा निराधारत्व व्यापकत्व अद्वितीयत्व असंगत्वरूप भगवद्धर्मसे द्रवीभूत मनकी निरवच्छिन्न धारा-प्रवाहरूप जो भगवदाकार वृत्ति है, वही भक्तिका लक्षण कहा जाता है ।

भक्तिकी महिमा

समस्त साधनोंको जीवनप्रदात्री भगवद्भक्ति प्राणरूप है । भक्तिहीन साधन प्राणहीन शरीरके समान निःसार हैं । भक्तिसे ही भगवान्के दर्शन होते हैं, भगवान् भक्तिके आधीन हैं, अतः भक्तिका महत्त्व सर्वोत्तम है ।

महर्षि नारदजीने कहा है—

‘अमृतस्वरूपा च’

संसारकी प्रचण्ड दुःखाग्निसे विदग्ध-अन्तःकरण

की परमशान्तिके लिये एकमात्र भगवद्भक्ति ही अमृत स्वरूपिणी है ।

महर्षि शाण्डिल्यने भी कहा है—

“तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्”

भगवद्भक्तिनिष्ठ जीव, साक्षात् अमृत-ब्रह्मरूप हो जाता है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्प्यनन्त

आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।

भक्ति विधाय परमां शनकैरविद्या,

ग्रन्थि बिभेस्यति ममाहमिति प्ररूढाम् ॥

श्रवणादिरूप अपराभक्तिको परिपक्व हो जाने पर प्रत्यगात्मारूप एकमात्र आनन्दनिधि, अनन्त, सर्व शक्तिमान्, भगवान्में परमप्रेमरूपा पराभक्ति सम्पादन करके तू अहंमयरूप अविद्याकी प्ररूढ़ ग्रन्थियों को शनैः शनैः तोड़ डालेगा ।

यथाऽग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।

तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि क्लृप्तशः ॥ १९ ॥

न साधयति मां योगो, न सांख्यं धर्म उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपस्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥

भक्त्याऽहमेकया प्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्माप्रियः सताम् ।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा इवपाकानपि सम्भवात् ॥ २१ ॥

धर्मः सत्यदयोपेतो, विद्या वा तपसाऽन्विता ।

मज्जत्तयाऽपेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।

विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुष्येज्जत्तया विनाऽऽशयः ॥ २३ ॥

(भा० ११।१४)

जिसप्रकार ज्वालासे बड़ी हुई अग्नि काष्ठको जलाकर भस्मकर डालती है, हे उद्धव ! उसप्रकार मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण-पाप समूहको ध्वंस कर देती है । हे उद्धव ! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप अथवा

दान कोई भी समर्थ नहीं है। सत्पुरुषोंका प्रिय आत्मा-रूप मैं एकमात्र श्रद्धायुक्त भक्तिसे ही सुलभ हूँ, मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी संसारवन्धनसे मुक्तकर पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे हीन पुरुषको सत्य और दयासे युक्त धर्म, अथवा तपसे युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती। रोमाञ्च हुए बिना, चित्तके द्रवीभूत हुए बिना, आनन्दाश्रुओंका उद्रेक हुए बिना तथा इन सबका कारणरूप भक्तिके बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है ?।

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तम्,

रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च,

मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४ ॥

यथाऽग्निना हेममलं जहति,

ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ।

आत्मा च कर्मानुशयं विधूय,

मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ,

मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।

तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं,

चक्षुर्यथैवाङ्गनसंप्रयुक्तम् ॥ २६ ॥

(भा० १११४)

जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी जोर-जोरसे रोता है, कभी हंसता है, कभी निःसंकोच होकर उच्चस्वरसे गाने लगता है, और कभी नाच उठता है-ऐसा मेरा परमभक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है। जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्यागकर अपने स्वच्छ स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मवासनासे मुक्त होकर अपने स्वरूप मुझको प्राप्त हो जाता है। जैसे-जैसे मेरी परम पावन कथाओंके श्रवण और कीर्तनसे चित्त परिमार्जित हो

जाता है, वैसे-वैसे ही वह अज्ञनयुक्तनेत्रोंके समान सूक्ष्म-वस्तुका दर्शन करता जाता है।

यर्ह्यङ्गनाभचरणैषणयोरुभक्त्या,

चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं,

साक्षाद् यथाऽमलदृशः सवितुः प्रकाशः ॥

(भा० ११३१४०)

जब साधक कमल-नाभ भगवान् विष्णुके चरण कमलोंकी प्राप्तिकी इच्छासे बड़ी हुई तीव्र भक्तिके द्वारा गुणकर्मजन्य अपने चित्तके मलोंको नष्ट कर देता है, तब उस विशुद्ध चित्तमें आत्म-तत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट भासने लगता है, जिस प्रकार निर्मल दृष्टि-वाले को सूर्यका प्रकाश।

वासुदेवे भगवति, भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याद्यु वैराग्यं, ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥

(भा० ११२१७)

भगवान् वासुदेवमें किया हुआ भक्तियोग, तत्काल ही वैराग्य और निर्मल ज्ञानको उत्पन्न करता है।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

[भा० २३११०]

जो निष्काम या सर्वकी कामनावाला या मोक्षकी कामनावाला उदारबुद्धि पुरुष हो, वह तीव्र भक्तियोग द्वारा परमपुरुषका निरन्तर यजन (चिन्तन) करे।

[भा० २३१३३]

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।

क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यङ्गुतोभयम् ॥४३॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन मनोमय्यर्पितं स्थिरम् ॥४४॥

(भा० ३१२६)

ज्ञान एवं वैराग्यसे युक्त भक्तियोग द्वारा, योगी लोग कल्याणके लिये मेरे निर्भय-चरण-तलमें प्रविष्ट

होते हैं । तीव्र-भक्तियोग द्वारा मेरेमें अर्पण किये हुए मनका स्थिर होना ही इस लोकमें मनुष्योंके कल्याणका उदय है ।

दानव्रततपोहोमजप-स्वाध्यायसंयमैः ।

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णेभक्तिर्हि साध्यते ॥

(भा० १०।४।२४)

दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, संयम, इत्यादि विविध साधनोंके द्वारा कल्याणार्थ मनुष्य, कृष्णमें भक्तिको सिद्ध करता है ।

इमं लोकं तथैवाप्तुमात्मानमुभयायिनम् ।

आत्मानमनु ये चेह मे रायः पक्षवो गृहाः ॥

विसृज्य सर्वानन्यांश्च, मामेवं विद्वतोमुखम् ।

भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥

(भा० ३।२६।-३९-४०)

यह लोक, परलोक, इन दोनोंमें गमन आगमन करनेवाला सूक्ष्म देह, तथा इस स्थूल देह सम्बन्धी, स्त्री पुत्र, पशु, धन इत्यादि समस्त सांसारिक पदार्थोंको छोड़कर जो मुझ सर्वव्यापक परमात्माका अनन्य-भक्ति द्वारा भजन करते हैं, उनको मैं (भगवान्) मृत्युमय संसारसे पारलगा देता हूँ ।

यस्य भक्ति भगवति, हरौ निःश्रेयसात्मनि ।

विक्रीद तोऽमृतात्मोभौ, किं तुच्छैः स्वातकोदकैः ॥

(भा० ६।१२।२३)

कल्याणस्वरूप, हरि भगवान्में भक्ति जिसको प्राप्त हो गयी है, उसको स्वर्गादिके तुच्छ, सुखोंका क्या प्रयोजन है ? जो अमृतके महासागरमें विहार करता है, उसे अल्पतालावके तुच्छ जलसे क्या प्रयोजन है ?

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः ।

कामा हृदया नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥

(भा० १।१२०।२९)

भक्तियोगसे निरन्तर भजन करनेवाले मुनिके

हृदयमें मुझ भगवान्को स्थिर होने पर समस्त कामनाएं नष्ट हो जाती हैं ।

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म, कारणं मोपयाति सः ॥

(भा० १।१।६।४५)

हे उद्धव ! मेरी अनपायिनी (अनन्या) भक्तिके द्वारा वह सम्पूर्ण लोकोंके परम नियन्ता, सबकी उत्पत्ति स्थिति एवं लयके आदि कारण, मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

यदच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

(भा० १।१।२०।८)

सौभाग्यवश ! जिसकी मेरी कथा श्रवण आदिमें श्रद्धा है, और जो न अतिविरक्त है, और न अति-आसक्त है उस पुरुषको भक्तियोगसे ही स्वेष्ट सिद्धि हो जाती है ।

भक्ति लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।

मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यनन्दानुभवात्मनि ॥

(भा० १।१।२६।३०)

हे उद्धव ! अनन्त गुणोंसे युक्त, आनन्द ज्ञान-स्वरूप मुझ परब्रह्ममें भक्ति प्राप्त करने वाले साधक-पुरुषको क्या और भी कुछ प्राप्त करना बाकी रह जाता है ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे भक्तिकी महिमा कही है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दावेन न चेज्यया ।

शक्य एवं विधो ब्रह्म दृष्टवानसि मां यथा ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेव भिद्योऽभूना

ज्ञातुं ब्रह्म च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

(१।१।५३-५४)

वैसा तूने मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदोंसे, तपसे,

दानसे अथवा यज्ञसे भी कोई देख नहीं सकता । हे अर्जुन ! केवल अनन्यभक्तिसे ही इसप्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना, और हे परंतप ! मुझमें तत्त्व से प्रवेश करना सम्भव है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या, मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(भा० ९।२९)

मैं सबको एक-सा हूँ, न मुझे कोई द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न कोई प्यारा है, भक्तिसे जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सत्यव्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शब्दच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

मां हि पार्थ व्या श्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥३२॥

(भा० अ० ९)

प्रथम वह बड़ा दुराचारी ही क्यों न रहा हो, यदि वह अनन्यभक्तिसे मुझे भजता है तो उसे बड़ा साधु ही संममना चाहिये, क्योंकि—उसकी बुद्धिका निश्चय अब अच्छा हो गया है । वह जल्दी ही धर्मात्मा हो जाता है, और अचल शान्ति पाता है, हे कौन्तेय ! तू प्रतिज्ञा कर कि—मेरे [भगवान्‌का] भक्त का कभी भी अमंगल नहीं होता । पार्थ ! मेरी शरण प्राप्तकरके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र इत्यादि जो पापयोनि प्रभव हैं, वे भी परमगति पा जाते हैं ।

भक्त्या मामभिजानानि यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां नश्यतो ज्ञात्वा विद्यते तदनन्तरम् ॥

(भा० १८।५५)

भक्तिसे मेरा तात्त्विक ज्ञान होजाता है, मैं कितना हूँ, और कौन हूँ, इसप्रकार मेरी तात्त्विक पहिचान

हो जाने पर भक्त मुझमें ही प्रवेश करता है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

हे पार्थ ! अनन्य भावसे जो सदा सर्वदा मेरा

नित्य स्मरण करता रहता है, उस नित्ययुक्त योगीको मेरी प्राप्ति सुलभ- रीतिसे हो जाती है ।

नारदसूत्र, शारिङ्गल्य सूत्र, दैवीमीमांसा-सूत्र

आदिमें भी भक्ति की महिमा बहुत मिलती है—यथा—

“भक्त्याऽमृतत्वं तदास्वादादनवपातः”

भक्तिके द्वारा अमृतत्वका लाभ होता है, जिसके आस्वादनसे पतन की सम्भावना दूर हो जाती है ।

“अकाम्या सा निरोधरूपत्वात्”

भक्ति कामना नहीं है, क्योंकि—जिससे सकल-कामनाका निरोध होता है, वह कामना नहीं हो सकती है ।

‘स्वयं फलरूपत्वात्सर्वफलप्रदा’

सकल साधनोंका फलरूप होनेसे भक्ति सर्वफल प्रदान करनेवाली है ।

‘सा परार्द्धा निखिल साधकापेक्षित्वात्’

भक्ति सर्वोत्तम है, क्योंकि—इसके बिना कोई भी साधक किसी भी साधन मार्गमें अप्रसर नहीं हो सकता है ।

‘सर्वधर्माङ्गप्रपन्ना च’

भक्ति, धर्मके सकल अंगोंकी सहायक है, इसके बिना किसी धर्माङ्गकी पूर्ति नहीं हो सकती है ।

‘लघूदितायामपि महाकल्मषहानम्’

सामान्यभक्तिका उदय हो जाने पर भी महापाप का नाश हो जाता है ।

‘अन्यजोऽप्यधिकारी तत्र सात्मात्’

अत्यन्त नीच-योनिके मनुष्योंका भी भक्तिमें अधिकार है ।

भक्तिका मुख्य साधन महत्सेवा

भगवद्भक्ति महापुरुषोंकी कृपा द्वारा प्राप्त होती है, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति,
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।

न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैः,
विना महत्पादरजोऽभिषेकात् ॥

यत्रोत्तमदलोकगुणानुवादः,
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविधातः ।

निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोः,
मर्तिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥
(भा० ५।१२।१२।१३)

श्रीजङ्गमभरतजी राजा रहूगणसे कहते हैं—हे रहूगण ! महापुरुषोंके चरणरजोंकी कृपाके बिना भगवद्भक्तिका उदय, तपस्या, याग, यज्ञ, वेदाभ्यास, और जल, अग्नि, सूर्य आदिकी उपासना द्वारा भी नहीं होता है । जहां पर रात्रि दिन महापुरुषोंके द्वारा विषया-सक्तिका नाशक श्रीउत्तम श्लोक-भगवान्के गुणोंका कीर्तन होता रहता है, जिसके सेवन करनेसे मुमुक्षुजनों-के चित्तमें शीघ्रही भगवद्भक्तिका उदय होता है ।

श्रीमद्भागवतमें ऋषभदेवजी भी अपने पुत्रोंको उपदेश देते हैं—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः,
तमोद्वारं योपितां सङ्गिसङ्गम् ।

महान्तस्ते समविचाः प्रशान्ताः,
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥

(भा० ५।५।२)

महात्मा-पुरुषोंकी सेवा मोक्षका द्वार है, स्त्रियोंके सङ्गियोंका सङ्ग अविद्या (नरक) का द्वार है, ऐसा

विद्वान् लोग कहते हैं । जो समदृष्टि-अत्यन्त शान्त, क्रोधरहित, सभीके मित्र, एवं सदाचारी हैं वे ही महा-पुरुष कहे जाते हैं । उनके ही अनुग्रहसे मोक्षका द्वार भगवद्भक्ति प्राप्त होती है ।

नारदजीने भी नारद-सूत्रमें कहा है—

‘मुख्यतस्तु महत्कृपया भगवत्कृपालेशाद्वा’

प्रधानतः महात्माओंकी कृपासे तथा महत्कृपासे समुत्पन्न भगवत्कृपाके लेशसे भी भक्तिका उदय होता है ।

भक्तिकी एकादश भूमिका

भक्तिरसायनमें आचार्य श्रीमधुसूदन स्वामीने भक्तिकी एकादश भूमिकाओंका वर्णन किया है—

प्रथमं महतां सेवा (१) तद्व्यापात्रता (२) ततः ।
(३) श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु, ततो हरिगुणश्रुतिः (४) ॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः (५), स्वरूपाधिगतिस्ततः (६) ।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे (७) तस्याथ स्फुरणं ततः (८) ॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः (९) स्वस्मिस्तद्गुण शालिता (१०) ।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठा (११) इत्युदिता भक्ति भूमिका ॥

भक्ति प्राप्तिकी प्रथम भूमिका (कक्षा) है—महा-पुरुषोंकी सेवा, इसके बाद द्वितीय भूमिका—महापुरुषोंकी कृपाका पात्र बनना, तृतीय भूमिका—महापुरुषोंके धर्मोंमें श्रद्धा होनी, चतुर्थ भूमिका—भगवान्के गुणोंका सावधान मनसे श्रवण, पंचम भूमिका गुण-श्रवणसे प्रेमाङ्कुरकी उत्पत्ति, षष्ठ भूमिका-भगवत्स्वरूपका ज्ञान, सप्तम भूमिका—परमानन्द स्वरूप भगवान्में प्रेमवृद्धि-अष्टम भूमिका-परमानन्दका साक्षात्कार, नवम भूमिका-भगवद्धर्मनिष्ठा, दशमभूमिका-भगवद्धर्मोंकी प्राप्ति, एवं एकादश भूमिका—भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठा, यह भक्तिकी भूमिकाओंका निरूपण किया ।



ग्राहकोंको-सूचना

मनीआर्डर तथा बी० पी० के रूपये भेजनेका पूरा पता—

स्वा० बालानन्दजी विश्वनाथ व्यवस्थापक

अपारनाथ मठ, दुण्डिराज गणेश

(काशी) बनारस सिटी

इस पूरे-पतेसे ही ग्राहक-अनुग्राहकोंको वार्षिक चन्देके रूपये भेजने चाहिये—

विश्वनाथके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं धर्म सम्बन्धी विषयों द्वारा जनता जनार्दनकी सेवा करना, और उपरोक्त विषयों पर पुनः पुनः विवेचन करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

नियम

(१) यह पत्र प्रत्येक मासकी शिवरात्रि (कृष्ण चतुर्दशी) को प्रकाशित होता है। विश्वनाथका वर्ष फाल्गुनकी महाशिवरात्रिसे आरम्भ होकर माघमें समाप्त होता है।

(२) इस पत्रके हिन्दी विभागका डाकव्ययके सहित वार्षिक मूल्य २) रु० और गुजराती विभागका २।।) रु० मात्र। भारतवर्षके लिये है, वार्षिक मूल्य अग्रिम लिया जायगा। लायब्रेरी, छात्र एवं धार्मिक संस्थाओंको केवल १।।) में दिया जायगा। एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(३) कार्यालयसे विश्वनाथपत्र २-३ बार जाँच करके भेजा जाता है। परन्तु किसी कारणवश किसी मासका विश्वनाथ ठीक समयपर न पहुँचे तो ग्राहकोंको अपने २ डाकघरसे ही प्रथम पूछताछ करनी चाहिये। डाकघरसे मिला हुआ उत्तर उसी महीनेकी पूर्णमासीके भीतर कार्यालयमें आजाना चाहिये। जिससे ग्राहकोंकी सेवामें न पहुँचा हुआ अंक भेज सकें।

(४) इस पत्रमें किसी प्रकारके विज्ञापन किसी भी दरपर स्वीकार न किए जाँयेंगे।

(५) जो महाबुभाव कमसे-कम एकबार १२५) रु०से इस पत्रकी सहायता करग, वे महाबुभाव स्थायी संरक्षक माने जाँयेंगे।

(८) मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डरके कूपन पंर रुपयोंकी तादाद, भेजनेका मतलब, पूरा नाम मय पता, ग्राहक नम्बर आदि सब बातें साफ साफ लिखनी चाहिये। प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि 'व्यवस्थापक-विश्वनाथ पत्र' के नामसे तथा लेख परिवर्तनके पत्र और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक-विश्वनाथ पत्र' विश्वनाथ-पत्र कार्यालय दुण्डिराज गणेश, बनारस सिटी के नामसे भेजने चाहियें।

(९) विश्वनाथमें छपनेवाले लेख लेखकोंकी ही जिम्मेवारी पर छपेंगे। और जो महाबुभाव कमसे-कम २५) रु० सहायता देंगे, वे इस पत्रके संरक्षक माने जाँयेंगे। तथा जो भगवद्भक्त कमसे-कम ५) सहायता देंगे, वे भी इस धार्मिक पत्रके सहायक माने जाँयेंगे। और वर्षमें एक दफे पत्रमें संरक्षक व सहायकोंकी नामावली प्रगट की जायगी।

(६) थोड़े समयके लिये पता बदलवाना होतो अपने पोस्ट-मास्टरकोही लिखना चाहिये। अधिक समयके लिये पता बदलनेकी सूचना हिन्दी महीनेकी पूर्णमासी तक कार्यालयमें आजानी चाहिये।

(७) ग्राहकोंको अपना नाम पता साफ साफ लिखते हुए

ग्राहक नम्बर पत्र-व्यवहार करते समय अवश्य लिखना चाहिये, और पत्रोत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना जरूरी है।

सन्त संग

(नाराचन्द्र)

(१)

अनेक जन्म पापपुंज, संत-संग होय है ।
असत्यसे विराग सत्यमांहि राग होय है ॥
हजार मांहि कोई एक, संतसंग पाय है ।
अनेक जन्म पुण्यसे, सुसंग हाथ आय है ॥

(२)

असंख्य द्रव्य धान्य धाम पुत्र पौत्र दार हो ।
न शान्ति होय लेश भी कुटुम्ब भी अपार हो ॥
सिवाय संतसंगके न शान्ति हाथ आय है ।
वही पिलाय सत्सुधा मृषा तृषा बुझाय है ॥

(३)

फिरे हमेश कालचक्र ऊँचनीच जाय है ।
विचित्र 'योनिमें' भ्रमाय कष्ट दे सताय है ॥
बिना महन्त सन्त संग जन्ममृत्यु जाय ना ।
जहाँ सुभी मरे जिये अखंड शान्ति पाय ना ॥

(४)

कुमार हो युवान होय वृद्ध होय जाय है ।
तहाँ तहाँ तपां करे अनेक दुःख पाय है ॥
सुसन्त-संग शान्ति दे अशान्ति कूँ मिटाय है ।
मिलाय नित्य ईशमांहि नित्य ही बनाय है ॥

(५)

नदी सुशुष्क होय है पहाड़ टूट जाय है ।
धनी दरिद्र देश भी विदेश होयजाय है ॥
मरे समस्त जन्म जन्म सन्त एक ना मरे ।
कृपा सुसन्त पाय धीर जन्म मृत्युसे तरे ॥

(६)

सुवर्ण वृष्टि नित्य होय रत्नपूर्ण हो मही ।
भलेहि रामराज्य होय हो विभूति सर्व ही ॥
न डाकु हो न चोर खोल द्वार सोय जाइये ।
न सन्तसङ्गके समान किन्तु शान्ति पाइये ॥

(७)

अथाह भी समुद्र मुक्त होय है न ज्वारते ।
अनादि सूर्य चन्द्र आदि काल पाय टूटते ॥
समस्त भूत धारिणी मही विनष्ट होय है ।
जिसे मिला सुसन्तसंग सो न नष्ट होय है ॥

(८)

न एकहू जगत्पदार्थ जन्म नाश हीन है ।
सभी मरा जियाकरें दुखी दरिद्र दीन है ॥
मरे नहीं जिये सदा यहाँ न लौट आय है ।
अनन्त सन्त संगसे अनन्त होय जाय है ॥

—सकलचराचरानुचर 'भोला'